अपनत्व का विषय

-नेमीचन्द पाटनी

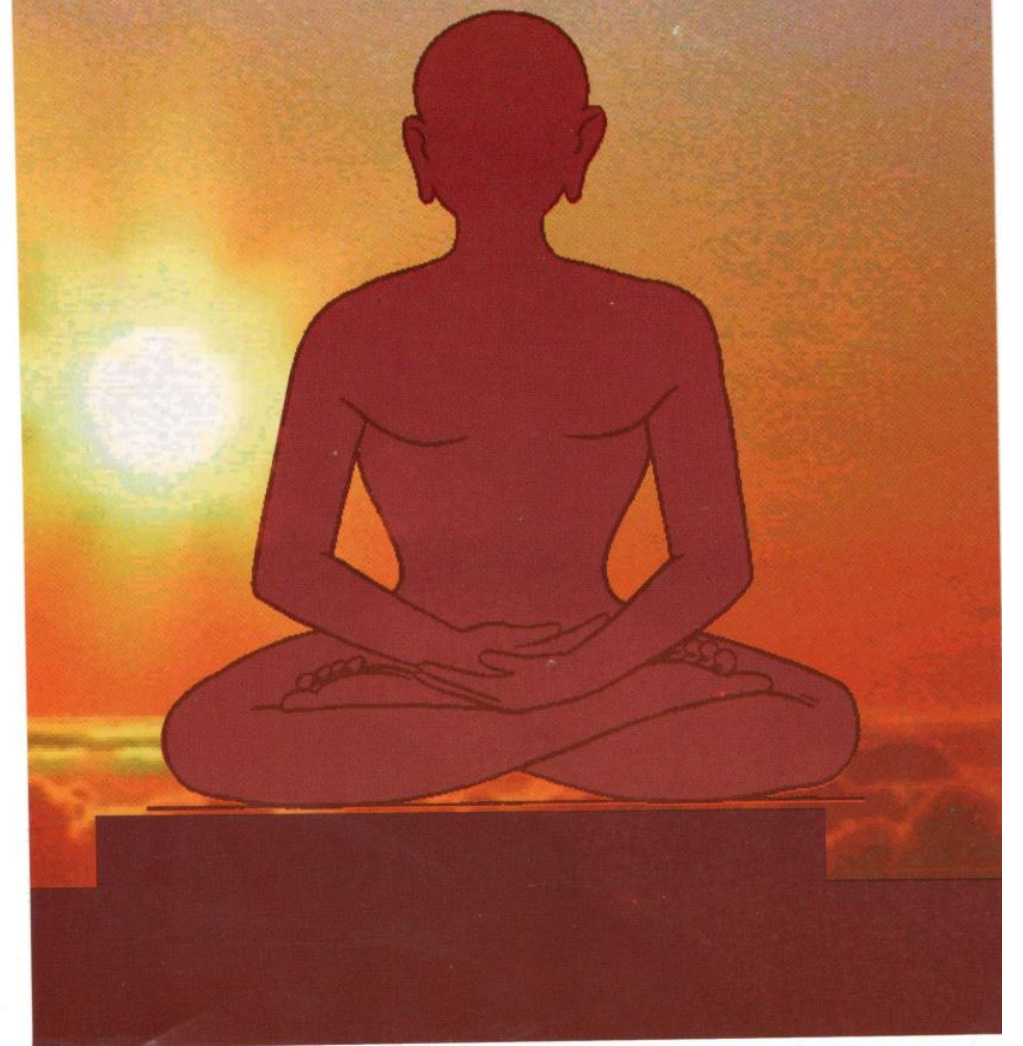

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के माध्यम से श्री नेमीचन्दजी पाटनी कृत ''अपनत्व का विषय'' पुस्तक का प्रकाशन करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

श्री नेमीचन्दजी पाटनी जैन समाज के जाने पहचाने वयोवृद्ध मनीषी विद्वान हैं, आप अनेक वर्षों तक पूज्य श्री कानजीस्वामी के समागम में रहे हैं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का सूक्ष्म अध्ययन किया है। जहाँ एक ओर आप राष्ट्रीय स्तर की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कुशल संचालन में सिद्धहस्त हैं वहीं आप जिनवाणी का स्वयं रसपान करने और कराने की भावना से भी ओत-प्रोत रहते हैं।

ऐसे महान व्यक्तित्व विरले ही देखने को मिलेंगे, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को जिनवाणी के प्रचार-प्रचार में समर्पित किया है, पाटनीजी उनमें अग्रणी हैं।

जिस उम्र में सारा जगत अपने उद्योग धन्धों को दिन-रात एक करते देखे जाते हैं, उस उम्र में आदरणीय पाटनीजी पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर उस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने हेतु घर-परिवार की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर उद्योग धन्धों की परवाह न करके पूज्य स्वामीजी के मिशन में सम्मिलित हो गये और अल्प समय में अपने कुशल नेतृत्व द्वारा वहाँ महत्वपूर्ण स्थान बना लिया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया पाटनीजी की तत्त्वज्ञान के प्रति समर्पण की भावना बढ़ती चली गई। सन् 1964 से - जब से श्री पूरनचन्दजी गोदीका द्वारा जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन की नींव रखी गई, तभी से आप पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामंत्री हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन का यह बटबीज, जो आज एक महान बट वृक्ष के रूप में पल्लवित हो रहा है, उसमें डॉ. भारिल्ल के अतिरिक्त श्री पाटनीजी का ही सर्वाधिक योगदान है।

प्रस्तुत प्रकाशन के पूर्व श्री पाटनीजी की और भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं; जिनमें सुखी होने का उपाय 8 भागों में हैं। ये आठों पुस्तकें

आध्यात्मिक तलस्पर्शी ज्ञान के कोष हैं। यद्यपि हिन्दी भाषा साहित्य के सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त पुस्तकें भले ही खरी न उतरें, परन्तु भावों की दृष्टि से जैनदर्शन के मर्म को समझने/समझाने में ये पुस्तकें पूर्ण समर्थ हैं।

इन सभी पुस्तकों के अध्ययन-मनन-चिन्तन से पाठक नि:सन्देह पाटनीजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से प्रेरणा प्राप्त कर उनके समान लोकिक कार्यों को यथासाध्य साधते हुए लोकोत्तर कार्य करेंगे।

इस पुस्तक का कम्पोजिंग कार्य श्री रमेशचन्द शास्त्री द्वारा मनोयोग पूर्वक किया गया है तथा मुद्रण व्यवस्था सदा की भांति प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने सम्हाली है; इसके लिए दोनों महानुभाव बधाई के पात्र हैं।

आप सभी अपनत्व के विषय की यथार्थ समझें और अपना आत्मकल्याण करें, इसी भावना के साथ-

मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर-302015

अमर कहाइये !

चेतन को अंक एक सदा निकलंक महा,
करम कलंक जामैं कोऊँ नहीं पाइए।
निराकार रूप जो अनूप उपयोग जाके,
ज्ञेय लखै ज्ञेयाकार न्यारौ हूँ बताइये॥
वीरज अनंत सदा सुख कौ समुद्र आप,
परम अनंततामैं और गुण गाइए।
'ऐसो भगवान ज्ञानवान लखै घट ही मैं,'
ऐसा भाव भाय ''दीप'' अमर कहाइये॥9॥

– ज्ञानदर्पण से साभार

विषय सूची

आद्य निवेदनम्	7
प्रारम्भिक	11
सत्यार्थ मार्ग की पहिचान	11
वीतरागता का स्वरूप	12
अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता	13
वीतरागतता का उत्पादन कैसे हो ?	15
विश्व-व्यवस्था एवं वस्तु स्वभाव	17
आत्मद्रव्य की अन्तरंग स्थिति	21
अज्ञानी जीव की वर्तमान दशा	23
दोनों में अन्तर कहाँ है ?	24
वीनरागता की पूर्ण दशा अरहंत भगवान	26
सर्वज्ञता का स्वरूप	27
दिव्य ध्वनि का प्रकाशन	31
आगम ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है	33
नयज्ञान की आवश्यकता	36
प्रमाणनयैरधिगमः	36
आगमपद्धति एवं अध्यात्मपद्धति	37
आत्मवस्तु एवं ध्रुव ज्ञायक का स्वरूप	40
प्रमाण की विषय आत्म वस्तु	41
द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय	42
निश्चय-व्यवहारनय	45
व्यवहार की उपयोगिता	49
आगम-अध्यात्म द्वारा प्रयोजन की सिद्धि	50
सविकल्पात्मक एवं निर्विकल्पात्मक भेदज्ञान में अन्तर	52
शुद्ध प्रमाण का आत्मा	53
प्रमाण वस्तु अनेकान्त स्वभावी	57

प्रमाण रूप आत्मा का मूल स्वभाव	61
पर्याय में अशुद्धता क्यों होती है?	70
श्रद्धा का विपरीत परिणमन किस प्रकार ?	72
श्रृंखला तोड़ना अति सरल	76
विकारी पर्याय के सम्बन्ध में	78
भावकर्म का अस्तित्व भी नहीं रहता	80
आत्मा त्रिकाली ज्ञायक कैसे ?	81
ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय के भेद भी नहीं रहते	82
अपनत्व का विषय	85
परपदार्थ से एकत्व तोड़ने का उपाय	91
आत्मद्रव्य चिन्मात्र ज्योति है	97
कारण शुद्ध पर्याय क्या है ?	103
श्रद्धा का जन्म निर्णय से होता है	108
प्रयोग्यलब्धि की चरम दशा	119
करणलब्धि में प्रवेश	120

लेखक के अन्य प्रकाशन

1. सुखी होने का उपाय भाग–1 से 8 तक
9. व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ
10. तत्त्वनिर्णय ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है
11. शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
12. णमो लोए सव्व साहूणं
13. वस्तु स्वातन्त्र्य
14. आत्मसम्बोधनम्
15. निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
16. सिद्धस्वाभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता
17. भेद विज्ञान का यथार्थ प्रयोग
18. अपनत्व का विषय

आद्य निवेदनम्

इस पुस्तक का नाम है, ''अपनत्व का विषय'', इसका उद्देश्य है दृष्टि के विषय ऐसे त्रिकाली ज्ञायक परम तत्त्व में अपनत्व कराना। ऐसा अपनत्व करने का संक्षिप्त एवं सरल मार्ग स्पष्ट करने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है।

संसार का प्रत्येक प्राणी, वर्तमान में प्राप्त पर्याय, जो ज्ञान धारक आत्मा और अचेतन पुद्गलों का पिण्ड यह शरीर, उन दोनों के एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध से उत्पन्न हुई, ऐसी इस असमानजातीय द्रव्य पर्याय को स्व के रूप में मानता चला आ रहा है; जबकि स्व तो एक ही हो सकता है। उन दोनों में से शरीर का अस्तित्व तो यहाँ ही समाप्त होता हुआ देखा जाता है, किन्तु जो ज्ञानधारक आत्मा इस शरीर से निकलकर अन्यत्र जाता है, उसका नाश कोई नहीं मानता। ऐसा स्पष्ट होते हुए भी प्रत्येक प्राणी का अपनापन शरीर में होता है, आत्मा में नहीं। इसका कारण यह है कि संसारी का बर्हिलक्ष्यी ज्ञान इन्द्रियाधीन प्रवर्तता है और इन्द्रियज्ञान का विषय मूर्तिक पुद्गल होता है; अमूर्तिक चेतनआत्मा उसके जानने में नहीं आता। फलतः जो इसको दिखता है उसी में अपनापन कर लेता है। ऐसी भूल अनादि से चली आ रही है। इसका फल यह है कि प्राणीमात्र शरीर के ही रक्षण पोषण में लगा रहता है, अन्ततः वह भी इसका साथ छोड़ देता है; इसलिये दुःखी-दुःखी रहता है।

ऐसे प्राणी को वास्तविकता का ज्ञान कराकर, ज्ञान धारक आत्मा में अपनापन कराना है। जिसके विद्यमान रहने तक यह शरीर जीवित माना जाता है और शरीर के नाश हो जाने पर भी जिसका अस्तित्व अजर-अमर रहता है, उसमें अपनत्व कराना है।

लेकिन इस शरीर में अपनापन होने के कारण जितने भी अच्छे-बुरे भाव किये हों, उनका फल तो आत्मा को ही भोगना पड़ता है। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि अपना मानने योग्य तो अकेला ज्ञान धारक आत्मा ही है, यह शरीर नहीं। लेकिन कठिनता यह है कि ज्ञान धारक आत्मा अमूर्तिक होने से इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं होता; और जो दिखता नहीं हो उसको अपना मानना अर्थात् अपना अस्तित्व उस रूप मानना अत्यन्त कठिन ही नहीं असम्भव लगता है। किन्तु वास्तविकता से तो इन्कार नहीं किया जा सकता, तथा इस विषय का निर्णय करने के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष दिखता है कि मैंने जिसको मेरा माना था वह तो इसी भव में नाश हो जाता है और जो अविनाशी रहने वाला ज्ञानधारकआत्मा, वह मुझे ज्ञात नहीं होता; और वह अविनाशी आत्मा ही मेरा मानने योग्य है। इसलिये अज्ञात होते हुए भी, मुझे तो असाधारणज्ञानशक्तिधारकआत्मा का स्वरूप समझकर तथा निर्णयकर, उसी का विश्वास (श्रद्धा) करके उसी में अपनापन स्थापन करना चाहिये। क्योंकि मेरा अस्तित्व तो अनन्तकाल तक रहना है; फलतः उसी के रक्षण-पोषण से मैं सुखी हो सकूँगा और अनन्तकाल सुखी रह सकूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति कराने का प्रयास किया गया है। इसका उद्देश्य है कि जो इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है और अव्यक्त है, ऐसे अपने ज्ञानधारकआत्मा के अस्तित्व का विश्वास अर्थात् श्रद्धा कराना। श्रद्धा में यह सदैव जाग्रत रहना चाहिये कि ऐसा अमूर्तिक ज्ञानधारकआत्मा, किसी प्रकार की ध्यान-आसन आदि की क्रियाओं से ज्ञान में व्यक्त नहीं

हो सकता, किन्तु उस पर तो आगमानुसार पद्धति से समझकर और निर्णय करके श्रद्धा ही की जा सकती है, ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। सम्यक् श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

तात्पर्य यह है कि जिस आत्मार्थी के अन्तर में अपने आपके अस्तित्व को खोजने व समझने की भावना जाग्रत हुई होगी और तीव्र रुचिपूर्वक कमर कसकर अपनत्व करने के विषय को समझकर, निर्णयकर, अपनत्व स्थापन करने के लिये तैयार हुआ होगा; ऐसा आत्मार्थी ही इस पुस्तक में बताये मार्ग को रुचिपूर्वक अपनाकर, अपनी परिणति को सब ओर से समेटकर, अपने ज्ञायक परमात्मा में एकाग्र करेगा, वह अवश्य मोक्षमार्ग प्रगटकर सकेगा। ऐसा मेरा विश्वास है।

उक्त मार्ग के मूल प्रदाता तो अरहंत भगवान हैं; उन्हीं की दिव्यध्वनि द्वारा परम्परा से आचार्यों द्वारा प्रतिपादित होता हुआ वही मार्ग अभी तक द्रव्य श्रुत में सुरक्षित चला आ रहा है और उसी को अपनाकर वर्तमान के इस युग में पू. श्री कानजी स्वामी ने इस मार्ग को जगत के सामने विस्तार से सरलता पूर्वक रखा। उन्हीं की पावन कृपा से उनके द्वारा उक्त मार्ग मुझे प्राप्त हुआ। उक्त मार्ग के समझने में जो कुछ अस्पष्टता थी वह, आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के समागम, चर्चा एवं उनकी रचना 'दृष्टि के विषय' के अध्ययन मनन से हुई। उसके पश्चात् मैंने उक्त मार्ग लिपिबद्ध करके डॉ. भारिल्ल साहब को आद्योपान्त पढ़वाया इसके लिये मैं उनका अत्यधिक आभारी हूँ और पुनः आवश्यक संशोधन के पश्चात् ही यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। **इसलिये उक्त मार्ग श्री गुरु द्वारा प्राप्त एवं आगम आधारित मुक्तियों एवं अनुमान द्वारा प्रमाणित तथा अपने अनुभव द्वारा परीक्षित मार्ग होने से, निःशंकता पूर्वक अपनाने योग्य है।**

अतः सभी आत्माथी बन्धुओं से निवेदन है कि उक्त मार्ग को निःशंक होकर श्रद्धापूर्वक अपनाकर, रुचि की उग्रतापूर्वक परिणति को सब ओर से समेटकर, अपने ज्ञायक में एकाग्र कर, उसमें अपनत्व स्थापन कर अनादि संसार का अन्त करें – यही भावना है।

– नेमीचन्द पाटनी

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	गुप्तदान – जवाहर चौक, भोपाल	200.00
2.	डॉ. इन्दरचंद बुद्धीचंदजी जैन, धामनौद	150.00
3.	श्रीमती कमलाबाई संतोषकुमारजी जैन, धामनौद	101.00
4.	श्री विजयश्री महेन्द्रकुमारजी जैन, धामनौद	101.00
5.	श्रीमती उमादेवी नरेन्द्रकुमारजी जैन, धामनौद	101.00
6.	श्री वसंतकुमार बालचन्दजी जैन, धामनौद	101.00
7	श्री नरेन्द्रकुमार रूपचंदजी जैन, धामनौद	101.00
8.	डॉ. विमलचन्दजी जैन, भोपाल	101.00
9.	श्री अयनजी जैन, भोपाल	101.00
10.	श्रीमती सरोज विमलचन्दजी जैन, भोपाल	101.00
11.	श्री पी.सी. जैन, भोपाल	101.00
12.	हँसा बेन, बैंगलोर	100.00
13.	सुशीला बेन, बैंगलोर	100.00
14.	सुमित्रा बेन, बैंगलोर	100.00
	कुल राशि	**1,559.00**

अपनत्व का विषय

प्रारम्भिक

सच्चे आत्मार्थी का उद्देश्य धर्म समझने एवं तद्रूप परिणमन करने का एक ही होता है कि "मेरा आत्मा स्वयं परमात्मा हो जावे।" इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वयं अध्ययन करता है, पढ़ता है, सुनता है, सत्समागम करता है आदि सब कुछ करता है। अपरिचित विषय को पहिचानने का उपाय भी यही है। क्योंकि पहिचान हुवे बिना, परिणमन भी नहीं हो सकता। **इसलिये सत्यार्थ दिशा में उपर्युक्त पुरुषार्थ हो, यह प्राथमिक आवश्यकता है।** इस दृष्टिकोण से आत्मार्थी को यथार्थ मार्ग समझने का पुरुषार्थ ही महत्त्वपूर्ण है।

सत्यार्थ मार्ग की पहिचान

हम सभी को अनुभव है कि आत्मा में होने वाले राग-द्वेषादि भाव ही आकुलता अर्थात् दुःख के उत्पादक हैं; अतः प्रत्येक प्राणी आकुलता का अभाव करके, सुखी होना चाहता है। **तात्पर्य यह है कि प्राणी मात्र अनाकुल शांति चाहता है अर्थात् राग-द्वेषादि भावों का अभावकर, वीतरागी शांति चाहता है।** जिनवाणी में भी वीतरागता को ही मोक्षमार्ग कहा है। पंचास्तिकाय गाथा 172 की टीका में इस प्रकार कहा है कि "**विस्तार से बस हो, जयवंतवर्तेवीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत है।**" डॉ भारिल्ल द्वारा रचित पूजन में भी आता है – "**वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है, वह ही मुक्ति का मार्ग निरन्तर, हम को जो दिखलाती है।**" इसलिये स्पष्ट है कि **जो मार्ग अपनाने से परिणति में वीतरागता**

की उत्पत्ति हो, वह मार्ग ही सत्यार्थ है और जिस मार्ग अपनाने से रागांश की उत्पत्ति हो, वह मार्ग सत्यार्थ नहीं हो सकता।

वीतरागता का स्वरूप

मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी के अभाव से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन के साथ, राग-द्वेष का अभाव होकर वीतरागता उत्पन्न होती है और उस ही से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। अप्रत्याख्यानादि का अभाव होने पर, क्रमशः सम्यग्चारित्र रूपी स्थिरता होती है और उसके साथ वीतरागता बढ़ते-बढ़ते क्रमशः अरहंत दशा प्राप्त हो जाती है। **कषाय की मंदता (लेश्या संबंधी मंदता) वीतरागता नहीं है, वह तो शुभभावरूपी मंदराग है। वह मोक्ष का कारण नहीं है। उक्त प्रकार के वीतरागभाव ही मोक्ष का कारण हैं।**

क्रोध, मान आदि की मंदता वह शुभभाव है और उनकी उग्रता वह अशुभभाव है। उनकी तीव्रता-मंदता का नाप करने के लिये छह लेश्याएँ हैं; उनमें कृष्ण, नील, कापोत घटते हुए अशुभ भाव होने से अशुभ लेश्याएँ है और पीत, पद्म, शुक्ल बढ़ते हुए शुभभाव होने से शुभ लेश्याएँ हैं। शुभ लेश्या संबंधी शुभभावों से पुण्यबंध होता है, उनसे अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं। और अशुभ लेश्या के परिणामों से पापबंध होता है; उनके फलस्वरूप प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। मिथ्यात्वी जीव उनमें अपनत्व कर, अनुकूल संयोगों में सुख मानकर और प्रतिकूल संयोगों में दुख मानता हुआ पुनः कर्म बंधकर लेता है। इसी प्रकार संसार परिभ्रमण करता रहता है। **शुभ लेश्या के भावों से संसार का अभाव नहीं होता, मात्र शुभगति का बंध होता है।**

तात्पर्य यह है कि वीतराग भावों से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होकर और पूर्णता को प्राप्त कर अरहंत दशा प्राप्त होती है। और शुभभावों से पुण्य बंध होकर स्वर्गादि में जन्म लेता है। फिर वहाँ के प्राप्त संयोगों में अपनत्व कर पापबंध करता है, उससे नरकादि को प्राप्त होता है। इस प्रकार संसारपरिभ्रमण करता रहता है। मोक्ष का मार्ग तो मात्र वीतरागतारूपी परिणाम हैं।

अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता

अनन्तानुबंधी का अभाव तो मिथ्यात्व अर्थात् पर को अपना मानने की मिथ्या मान्यता के अभाव के साथ ही होता है। कृष्ण लेश्या के अशुभतम भाव अथवा शुक्ल लेश्या के शुभतम भाव मिथ्यात्व के साथ भी हो जाते हैं। **इसलिये शुभ लेश्या के भावों में भी अनन्तानुबंधी रह सकती है, अतः शुभभाव, अनन्तानुबंधी के अभाव के किंचित् मात्र भी द्योतक नहीं हैं तथा कारण भी नहीं है।**

परन्तु मिथ्यात्व के अभाव होने पर, पर को अपना मानने की तथा स्वयं को उनका स्वामी मानने की मान्यता का अभाव हो जाता है, और त्रिकाली ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी आत्मा को अपना मानने की, सम्यक् मान्यता का जन्म हो जाता है। साथ ही अनन्तानुबंधी के सद्भाव में, अपने को पर का स्वामी मानने से उनके प्रति कर्तृत्व की तीव्रता एवं भोगने की तीव्र गृद्धता के भाव रहते थे, उनका भी अभाव हो जाता है। **अनन्तानुबंधी का वाच्यार्थ ही है कि अनन्त परपदार्थों के साथ अपनेपने का अनुबंध करना,** अतः उसके नाश होने पर उक्त मान्यता का भी अभाव हो जाता है। उसके अभाव होने पर अशुभ लेश्याओं के भावों में सहजरूप से कमी हो जाती है

एव शुभ लेश्या के भावों में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप सम्यग्दृष्टि को सहजरूप से अशुभ गतियों का बंध नहीं होता, मात्र स्वर्ग का बंध होता है और पूर्व में बाँधी हुई अशुभ गति का बंध हो तो आगमानुसार उनके भी स्थिति-अनुभाग घट जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अनन्तानुबंधी के अभाव होने पर, हठपूर्वक पर को अपने अनुकूल परिणमन कराने के भाव एवं प्राप्त संयोगों को गृद्धता के साथ भोगने के भाव उत्पन्न ही नहीं होते। फलतः पर को अनुकूल करने के लिये, अन्याय रूप वर्तन के भाव एवं इन्द्रिय विषयों की पूर्ति हेतु, मांसादि अभक्ष्य भक्षण एवं व्यसनादि सेवन के भाव सहजरूप से उत्पन्न नहीं होते। अनन्तानुबंधी के अभाव के साथ सहज स्वाभाविक इस प्रकार के अशुभभाव नहीं होते, ऐसा अविनाभावी संबंध है। **क्रिया तो भावों के अभाव में हो ही नहीं सकती। किन्तु क्रियाओं का त्याग कर देने पर भी उक्त प्रकार के भावों के नहीं होने का नियम नहीं है अर्थात् अबिनाभावी संबंध नहीं है।** क्योंकि उक्त क्रियाओं के त्याग कर देने पर भी अज्ञानी को उक्त प्रकार के भाव होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते है। और बंध तो भावों से होता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकार की क्रियाओं के अभाव अथवा तज्जन्य होने वाले शुभभावों के द्वारा, अनन्तानुबंधी के अभाव को नहीं पहिचाना जा सकता। वरन् अपनत्वबुद्धि पूर्वक पर में कर्तृत्व की उग्रता पूर्वक-हठपूर्वक इच्छानुसार परिणमाने के परिणाम एवं गृद्धतापूर्वक विषयों को भोगने के परिणाम, जो बिना प्रयास के अज्ञानी को होते रहते हैं उनके अभाव से अनन्तानुबंधी के सद्भाव एवं अभाव को आत्मार्थी स्वयं पहिचान सकता है; लेश्यासंबंधीशुभभावों के द्वारा नहीं

पहिचाना जा सकता। जैसे ग्रैवेयक में जाने वाले मिथ्यादृष्टि साधु को शुक्ल लेश्या के शुभभाव होने पर भी मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी के परिणाम वर्तते रहते हैं; इसके विपरीत क्षायक सम्यग्दृष्टि भरत चक्रवर्ती को अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता वर्तते रहने पर भी बाहुबली पर चक्र चलाने के समय अशुभ लेश्या के तीव्रतम भाव थे। अत: लेश्या संबंधी भावों से वीतरागभावों की पहिचान नहीं हो सकती।

निष्कर्ष यह है कि क्रोध-मानादि कषायों के उग्र भावों (अशुभ लेश्या के भावों) की कमी अथवा उक्त कषायों में मंदभावों (शुभ लेश्या संबंधी शुभभावों) की अधिकता के द्वारा अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता को नहीं पहिचाना जा सकता। वरन् पर में अपनत्वबुद्धि पूर्वक वर्तने वाली अधिकार पूर्वक की कर्तृत्वबुद्धि एवं गृद्धतापूर्वक की भोक्तृत्व बुद्धि के परिणामों के अभाव से पहिचाना जा सकता है; मात्र शुभ भावों से नहीं।

वीतरागतता का उत्पादन कैसे हो ?

प्रश्न – वीतराग परिणति का उत्पादन कैसे हो ?

उत्तर – वीतरागता का वाच्यार्थ ही है कि रागादि का अभाव। रागादि के अभाव में जीव चिरकाल रह सकता है, इसलिये रागादि का अभाव भी करना चाहता है। **इससे सिद्ध है कि वीतरागता आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव, स्वभाववान् के साथ ही रहता है।** इसलिये आत्मा तो वीतराग स्वरूप ही है। तात्पर्य यह है कि **वीतरागता का उत्पादन नहीं करना है, वरन् रागादि के उत्पादक कारणों का अभाव करना है।**

रागादि दो प्रकार से होते हैं, एक तो आत्मा जिसको अपना मान लेता है, उसके रक्षण-पोषण के लिये राग और द्वेष करता है। ऐसे भावों में अन्य जीवादि का घात करके अथवा हानि पहुँचा कर भी, जिसको अपना माना है उसके रक्षण-पोषण के लिये अपने को उनका स्वामी मानकर कर्तृत्व के एवं प्राप्त विषयों में तीव्र गृद्धतापूर्वक भोगने के भाव करने में राग और द्वेष होते हैं। ऐसे भावों को अनन्तानुबंधी के रागद्वेष कहा जाता है। ऐसे भाव, पर को स्व मानने की मिथ्या मान्यता के साथ होते हैं। **तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञायक स्वभावी आत्मा को स्व नहीं मानकर, उसके विपरीत पर (कोई भी हो) उसको स्व मान लेने पर ही उक्त प्रकार के राग-द्वेष होते हैं। ऐसे राग-द्वेष ज्ञानी को नहीं होते।**

दूसरे प्रकार के राग-द्वेष ऐसे होते है, जो ज्ञानी होने के पश्चात् भी ज्ञानी को हो जाया करते हैं; लेकिन उनमें गृद्धतापूर्वक की पकड़ बुद्धि नहीं होती, यह अन्तर होता है। जैसे अपने पुत्र के रक्षण-पोषण के लिये होने वाले राग-द्वेष भावों में तथा अपने मित्र के पुत्र के रक्षण-पोषण के लिये होने वाले भावों में अन्तर होता है। अपने पुत्र के लिये होने वाले भावों में तो अपना सर्वस्व समर्पण करने तक की गृद्धता होती है और मित्र के पुत्र के सम्बन्ध में तो मात्र ऐसे ही रागादि होते हैं, जिनमें अपने को किंचित् भी हानि नहीं पहुँचे; लेकिन ऐसे भाव मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी के अभाव होने पर ही होते हैं। इसलिये वर्तमान प्रकरण में अज्ञानी को होने वाले भावों के उत्पादक कारणों को समझकर, उनके अभाव करने पर ही चर्चा करेंगे।

प्रथम प्रकार के रागादि के उत्पादन का मूल कारण है, अपने आपका स्वरूप नहीं समझकर, पर को स्व मानने की मिथ्या मान्यता और वीतरागता प्रारम्भ करने का मूल उपाय

है, उनका अभाव कर अपने त्रिकाली स्वरूप को समझकर उसको स्व मानना।

प्रश्न – अपने त्रिकाली स्वरूप को कैसे पहिचाना जावे ?

उत्तर – इसके लिये सर्वप्रथम विश्व की व्यवस्था समझकर उसमें अपनी आत्मवस्तु को समझने के लिये, छह द्रव्यों के स्वरूप एवं उनके परिणमन की स्वतंत्रता को समझना चाहिये। तत्पश्चात् उनमें से अकेले अपने आत्मद्रव्य को स्व के रूप में समझकर, बाकी सभी द्रव्यों को पर मानकर, उनके प्रति अंपनत्व बुद्धि का अभाव करना चाहिये। तत्पश्चात् अपने आत्म द्रव्य में भी त्रिकाल रहनेवाले त्रिकाली स्वभाव एवं प्रतिसमय उत्पाद-व्यय करने वाले पर्याय स्वभाव को समझना चाहिये। तत्पश्चात् त्रिकाली स्वभाव में अपनत्व कर, उत्पाद-व्यय करने वाले अनित्य स्वभावों में से अपनत्व का अभावकर, परत्व उत्पन्न करना चाहिये। इस प्रकार त्रिकाली ज्ञायक में निजत्व होकर उसमें एकत्व अर्थात् एकाग्र होते ही, मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी का अभाव होकर वीतरागता का उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है। यही एकमात्र उपाय है वीतरागता के उत्पादन का।

विश्व-व्यवस्था एवं वस्तु स्वभाव

विश्व अर्थात् लोक छह जाति के अनन्तानन्त पदार्थों – द्रव्यों से भरा हुआ है। उनमें प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र सत्ता धारक पदार्थ है और प्रति समय ध्रुव रूप से सत्ता कायम रखते हुए परिणमन (पर्याय) भी करता रहता है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने अनन्त गुणों सहित परिणमन (पर्याय) करता है। **इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की, अनादि से अनन्त काल तक स्वतंत्रतापूर्वक परिणमते हुए, सत्ता बनी रहती है।** आगम का सूत्र है ''सत्द्रव्यलक्षणं'-, 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्'

गुणपर्यय वद्द्रव्यं''। ऐसे द्रव्यों की छह जातियाँ है इनके नाम है – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, **यहाँ धर्म, अधर्म का तात्पर्य – पुण्य, पाप नहीं है,** ये तो द्रव्यों की जाति है। **इनमें जीव तो चेतन भी है और अमूर्तिक व असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी एक है; बाकी पाँचों द्रव्य तो अचेतन ही हैं।** जीव द्रव्यों की संख्या अनन्त है और पुद्गल द्रव्य तो उनसे भी अनन्त गुणे और मूर्तिक हैं। धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक है और काल द्रव्य असंख्यात है, ये चारों अचेतन होने के साथ अमूर्तिक भी हैं। पुद्गल द्रव्य का प्रत्येक परमाणु एक द्रव्य है, जो मूर्तिक (रूपी) एक प्रदेशी रहते हुए भी, स्कन्ध के रूप में मिलकर अनेक प्रदेशी बन जाने की योग्यता वाले हैं। **इस प्रकार यह विश्व की अनादि निधन अकृत व्यवस्था है, कोई इसका व्यवस्थापक नहीं है। प्रत्येक द्रव्य, अपने-अपने प्रदेशों में मर्यादित रहते हुए, अपनी-अपनी सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुसार, स्वतंत्रता पूर्वक परिणमन करते रहते हैं।** इसका समर्थन समयसार गाथा-3 की टीका के निम्न अंश से प्राप्त होता है–

''वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं – स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एक क्षेत्रावगाह रूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदा काल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पर रूप परिणमन नहीं करने से अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती इसलिये वे टंकोत्कीर्ण की भाँति (शाश्वत) स्थित रहते है और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं – टिकाये रखते हैं।''

इस प्रकार उक्त सभी द्रव्य, जिनमें जीव द्रव्य भी सम्मिलित है, अपने प्रदेशों में सीमित रहते हुए, स्वतंत्रतापूर्वक, अपने-अपने गुणों के परिणमन रूपी कार्य करते रहते हैं। जिनमें अमूर्तिक द्रव्य के अमूर्तिक एवं चेतन द्रव्य के चेतन कार्य (परिणमन) होते हैं; अचेतन के कार्य अचेतन ही होते हैं, चेतन नहीं होते और चेतन के अचेतन नहीं होते। इनमें पाँच द्रव्य तो अचेतन हैं तथा उनमें पुद्गल तो मूर्तिक और अचेतन भी है, वे तो इतना भी नहीं जानते कि उनका अस्तित्व है और अन्य का भी। अतः वे तो किसी के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने के लिये परिणमन करें, यह सम्भव ही नहीं है। **किन्तु उनमें एक जीवद्रव्य ही चेतन अर्थात् ज्ञानधारक द्रव्य होते हुए अमूर्तिक भी है वह स्व-पर को जानने के स्वभाववाला भी है। छहों द्रव्य तो आपस में एक-दूसरे को स्पर्श भी नहीं करते। अमूर्तिक जीव, अमूर्तिक होने से अन्य द्रव्यों को एवं मूर्तिक पुद्गल को स्पर्श करे भी तो करे कैसे ?** यदि करेगा तो स्वयं का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। परन्तु जीव अपने अस्तित्व व परिणमनों एवं अन्य द्रव्यों के अस्तित्व व परिणमनों को जानता है; क्योंकि उसका ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है। किन्तु **जिनको जानता है, उनको स्पर्श भी नहीं करता** और स्पर्श किये बिना हस्तक्षेप भी कर कैसे सकेगा ? नहीं कर सकता। इस प्रकार की सहज स्वाभाविक अकृत विश्व की व्यवस्था एवं वस्तुओं के स्वभाव हैं।

प्रश्न – तो द्रव्य स्वयं क्या करते हैं ?

उत्तर – इसका उत्तर भी उक्त गाथा 3 की टीका के प्रारम्भ में ही आया है – **''यहाँ 'समय' शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से (एकत्वपूर्वक) अपने गुण-पर्यायों को**

प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो समय है।'' उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि **विश्व के प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने अनन्तगुणों में परिणमते हुए, अपनी-अपनी योग्यतानुसर अपने कार्यों के करने में संलग्न रहते हैं, अन्य किसी भी द्रव्य को (अर्थात् जीव अपने साथ रहने वाले शरीराकार पुद्गलों को भी) स्पर्श नहीं करते और अपने कार्य (परिणमन) करने में व्यस्त रहते हैं।**

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि विश्व का अनन्तानंत द्रव्य समूह अपने-अपने परिणमन में व्यस्त रहता हैं। **मैं भी** उसीप्रकार **अपने परिणमनों को ही कर सकता हूँ, ऐसा मानने से मेरा अन्य किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहता मात्र उनके परिणमनों को जान सकता हूँ। अतः विश्व में 'मेरा मानने लायक अर्थात् अपनत्व करने योग्य' कोई है तो अकेला एक मेरा जीव द्रव्य है;** बाकी अनन्तानन्त द्रव्य 'मेरा मानने लायक नहीं हैं' अपितु परत्व अर्थात् पर मानने योग्य हैं। **वे सभी, मेरी किसी प्रकार की (जानने की) भी अपेक्षा किये बिना, अपने-अपने गुणों के परिणमन में व्यस्त रहते हैं।** इसलिये मुझे भी उनसे किसी प्रकार की आशा अथवा अपेक्षा नहीं करके अपने जानने के स्वभाव में ही व्यस्त रहना चाहिये; यह ही विश्व की व्यवस्था एवं वस्तुस्वभाव की मर्यादा है। ऐसा निःशंक होकर मान्य करना ही शांति अर्थात् आत्मा के धर्म प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय है – प्रथम सीढ़ी है। ऐसे स्वभाव की प्रगटता का प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध भगवान् की आत्मा है। वह अपने स्व-पर प्रकाशक ज्ञान द्वारा, अन्य द्रव्यों के परिणमनों से अत्यन्त निरपेक्ष रहकर, अपनी ज्ञान सामर्थ्य द्वारा जानते हुए, अपने आपमें लीन रहकर परमशांति आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। कहा भी है – **''सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।''** तात्पर्य

यह है कि मुझे भी मेरा मानकर मेरा मानने योग्य तो पूरे लोक में अकेला मेरा ज्ञायक ही है। समस्त द्रव्यों के परिणमन में मुझे परत्व की श्रद्धा उत्पन्नकर, उनसे तटस्थ रहकर, अपने ज्ञायक स्वभाव में अपनत्वपूर्वक वर्तते रहना चाहिये; यही मेरे आत्मा का स्वभाव है, ऐसे ही परिणमन में आत्मा अनन्त काल रह सकता है।

उक्त ध्येय प्राप्त करने के उद्देश्य को सदैव ज्ञान-श्रद्धान में जाग्रत रखकर किया जाने वाला जिनवाणी का अध्ययन-चिंतन-मनन आदि, आत्मार्थी के लिये अत्यन्त प्रयोजनभूत है एवं सम्यक्त्व सन्मुखता की प्राथमिक पात्रता है।

उक्त पात्रता उसी जीव को प्रकट होगी, जिसने छहों द्रव्यों के पाँच समवायपूर्वक सहज बनने वाले निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों के स्वरूप को समझ लिया हो और और सत्यार्थ स्वरूप नहीं समझने के कारण भ्रमित होकर, द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन में शंका उत्पन्न नहीं हुई हो। (इसके स्पष्टीकरण के लिये लेखक की 'वस्तु स्वातंत्र्य' नाम की पुस्तिका उपयोगी होगी)। उक्त सभी अध्ययनों के माध्यम से द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा उत्पन्न होकर, अपना पुरुषार्थ सबकी ओर से सिमटकर, अपने आत्मद्रव्य में सीमित हो जाता है। और उनमें वर्तने वाली अपनेपन की बुद्धि एवं कर्तापने की मान्यता ढीली होकर, परमात्मा बनने के पुरुषार्थ की रुचि उग्र हो जाती है।

आत्मद्रव्य की अन्तरंग स्थिति

उक्त आत्मार्थी जब आत्मा को परमात्मा बनने के उद्देश्य से आत्मद्रव्य का अनुसंधान करता है तो, आत्मद्रव्य अनन्तगुणों का अभेद अखण्ड पिण्ड, प्रतिसमय ध्रुव रहते हुए परिणमता हुआ भी

अनुभव में आता है। इस प्रकार वह ज्ञायक द्रव्य अनन्तगुणों की अनन्तता रहते हुए भी एक तथा प्रतिसमय परिणमते रहने से अनित्य होते हुए भी नित्य, ऐसा ज्ञात होता है। **लेकिन उनमें ज्ञायक तो त्रिकाल शुद्ध बना रहता है और पर्याय अशुद्ध भी वर्तती है। परन्तु पर्याय के शुद्ध होने पर ही परमात्म दशा प्रगट होगी, यह भी विश्वास है। इस प्रकार के विचारों द्वारा मेरा स्वरूप तो ध्रुव ज्ञायक निश्चित हो जाता है और पर्याय की शुद्धता मेरा उद्देश्य बन जाती है।**

उक्त अनन्तगुणों में स्व-परप्रकाशक स्वभावी ज्ञान, एक ऐसा असाधारण गुण है कि वह स्व-पर को जानकर व उनका स्वरूप समझकर, योग्य निर्णय भी कर सकता है, आत्मा के किसी अन्य गुण में यह सामर्थ्य नहीं है। **ज्ञान ही पर्याय में अशुद्धि उत्पादन के कारणों को समझकर, अशुद्धि का अभाव कर, शुद्धि प्रगट करने का उपाय भी खोजता है। उक्त प्रक्रिया, आत्मा के स्वक्षेत्र में रहते हुए ही अन्तर्लक्ष्यी ज्ञान द्वारा होती है।**

पर्याय की शुद्धि के लिये पर्याय के परिणमन में होने वाले नव तत्त्वों के स्वरूप को समझना आवश्यक हो जाता है। उनमें से जीव-अजीव नाम के दोनों ज्ञेय तत्त्वों का स्वरूप समझकर, पुण्य-पाप-आश्रव बंध तत्त्वों को छोड़ने योग्य तथा संवर-निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्व प्रगट करने योग्य समझकर तथा ध्रुव ज्ञायक का स्वरूप समझकर तदनुसार निःशंक निर्णय करता है। ध्रुव में अपनत्व करने के लिये अर्थात् अपना अस्तित्व ज्ञायक रूप मानने के लिये उसका स्वरूप समझता है। (तत्त्वों के स्वरूप समझने के लिये सुखी होने के उपाय भाग-2 का संशोधित संस्करण अध्ययन करें)। ज्ञायक के आश्रयपूर्वक

ज्ञायक में अपनत्व के पुरुषार्थ से, पर्याय में शुद्धता प्रारम्भ हो जाती है; ऐसा निर्णय करता है।

इस प्रकार आत्मा की अन्तरंग स्थिति समझकर यथार्थ पुरुषार्थ करने से आत्मानुभवपूर्वक निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ऐसे पुरुषार्थ का विवेचन आगामी प्रकरणों में है।

अज्ञानी जीव की वर्तमान दशा

अज्ञानी जीव की वर्तमान दशा उक्त स्वभाव से विपरीत वर्त रही है। अपने ध्रुव में अपनत्व करने के विपरीत परद्रव्यों को अपना मानकर, उनका स्वामी बनने का प्रयास करता है एवं उनके परिणमनों का तटस्थ ज्ञाता रहने के विपरीत कर्ता-भोक्ता बनकर उनके परिवर्तन करने में प्रयासरत रहता है। फलस्वरूप अनाकुल सुख के विपरीत, निरंतर आकुलता को भोगता हुआ दुःखी बना रहता है। आत्मा में स्व-स्वामि संबंध नाम की शक्ति (गुण) है, अतः आत्मा अपने गुण पर्यायों का स्वामी तो है लेकिन जिनके प्रदेश भिन्न है उनका स्वामी कैसे हो सकेगा ? इसी प्रकार आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण है इसलिये वह, अपने-अपने गुण पर्यायों को करने-भोगने वाला तो है लेकिन परद्रव्य जिनके प्रदेश भिन्न हैं और उनका स्पर्श भी नहीं करता तो उनका कर्ता-भोक्ता कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त अमूर्तिक चेतन आत्मा का तो, मूर्तिक पुद्गलों से जातिगत भेद है, अमूर्तिक -मूर्तिक को स्पर्श भी नहीं कर सकता, उनको, कैसे तो करे व कैसे भोगे; असम्भव है। दूसरी ओर आत्मा का स्वभाव है कि अपने अमूर्तिक प्रदेशों में रहते हुए, स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव द्वारा, अन्य के परिणमनों का अपने में रहते हुए ही मात्र ज्ञान कर सकता है। सिद्धान्त है कि स्वभाव कभी बदलता नहीं। फिर भी

अज्ञानी, अपने को जानने के स्वभाव वाला नहीं मानकर उसके विपरीत, अन्य द्रव्यों में परिवर्तन करने की शक्ति वाला मानता है। किन्तु आत्मा तो ऐसी मान्यता को भी जान लेता है, क्योंकि जानना उसकी स्वाभाविक क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में परिणमन करे बिना रह ही नहीं सकता; इसलिये आत्मा भी जाने बिना रह ही नहीं सकता। यह तो अकृत वस्तु स्वभाव का नियम है।

इस प्रकार ऐसे वस्तु स्वभाव को, जो सिद्ध की आत्मा में तो प्रगट है और हमारे आत्मा का स्वभाव है, अज्ञानी उसके विपरीत असंभव कार्य करने की सामर्थ्य वाला अपने को मानकर विपरीत कार्य करने में संलग्न रहता है। ऐसी मान्यता का फल भी विपरीत ही होता है। जब तक इस प्रकार की श्रद्धा रहेगी तब तक अनवरत रूप से विपरीत पुरुषार्थ चलता रहेगा और सम्यक्त्व सन्मुखता की पात्रता भी प्रगट नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार उक्त अन्तर को समाप्त करने के लिये आत्मार्थी को कल्याणकारी यथार्थ पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये।

दोनों में अन्तर कहाँ है ?

उक्त दोनों दशाएँ जीव द्रव्य की ही हैं; जीव की स्वाभाविक दशा तो सिद्ध दशा है और विपरीत दशा संसारी दशा है। दोनों दशाएँ जीव के ही परिणमन हैं। लेकिन जीव के परिणमनों के साथ, उसका नित्य एवं सिद्ध स्वभावी ज्ञायक भी तो सदा वर्तता रहता है। वह नित्य स्वभावी होने से, प्रत्येक परिणमन के साथ सिद्ध भगवान् के जैसा अक्षुण्ण बना रहता है, फिर भी पर्याय विपरीत वर्तती रहती है; ऐसा पर्याय का भी स्वभाव है। **तात्पर्य यह है कि संसारी जीव, सिद्ध समान ध्रुव रहते हुए भी, विपरीत मान्यता के कारण, प्रति समय**

परिणमन में विकार उत्पन्न करता है और वह विनष्ट होकर भी पुनः उत्पन्न होता रहता है; इस प्रकार पर्याय में श्रृंखलाबद्ध विकार का उत्पाद और व्यय होता रहता है। इतना अवश्य है कि उक्त पर्याय अनित्य स्वभावी होने से, जीव जब भी सम्यक् मान्यता के उत्पाद द्वारा अपनी श्रद्धा परिवर्तित करेगा, उसी काल अनादि की श्रृंखला तोड़ भी सकता है।

उक्त श्रृंखला तोड़ने के लिये अनन्त काल नहीं लगता; मिथ्या मान्यता का व्यय होते ही, सम्यक् श्रद्धा का उत्पाद हो जाता है और इस प्रकार अनादि की श्रृंखला सहज ही टूट जाती है और सम्यक् श्रद्धा की श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी सम्यक् श्रद्धा की श्रृंखला, चारित्र की शुद्धि के साथ बढ़ते-बढ़ते अन्तांतोगत्वा शुद्धता प्राप्त कराकर, ध्रुव के समान पर्याय को भी शुद्ध बना देती है। इस प्रकार संसारी भी, सिद्ध परमात्मा बन सकता है। इससे सिद्ध है कि संसार दशा तो प्रत्येक परिणमन (पर्याय) में, जीव की स्वयं की विपरीत मान्यता के कारण उत्पन्न होती है। इसलिये अगर हम, पर्याय को गौण करके, वर्तमान में भी समझें तो जीव तो सिद्ध सदृश्य त्रिकाल है, विकारी परिणमन के समय भी ज्ञायक तो ध्रुव बना रहता है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मार्थी को अपने त्रिकाल एक सरीखे रहने वाले नित्य स्वभावी ज्ञायक रूप अपना अस्तित्व मानकर, अपनत्व करने के लिये गहराई से समझना चाहिये। और परिणमन स्वभाव अर्थात् पर्याय स्वभाव को एवं उसमें उत्पन्न होने वाली विकृतियों के उत्पादक कारणों को, पर्याय को शुद्ध करने के उद्देश्य से गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिये। पर्याय की शुद्धता के लिये अपने आराध्य ऐसे वीतरागी देव,

वीतरागता का मार्ग बतलाने वाले मार्ग प्रकाशक शास्त्र तथा उस मार्ग पर आचरण करने वाले ऐसे वीतरागी गुरुओं का स्वरूप समझकर उन पर श्रद्धा करना चाहिये।

वीतरागता की पूर्ण दशा अरहंत भगवान

अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी एवं संज्वलन के सद्भाव में होने वाले अचारित्र भावों का आत्यन्तिक अभाव हो जाने से प्रगट होने वाली वीतरागता की साक्षात् मूर्ति भगवान अरहंत की आत्मा है। उनको सभी प्रकार के रागांशों का अभाव हो जाने से पूर्ण वीतरागी होने के साथ ज्ञान भी पूर्ण प्रगट हो गया – केवलज्ञान हो गया। इस प्रकार वे पूर्ण वीतरागी होने के साथ-साथ सर्वज्ञ भी हो गये। सिद्ध भगवान का आत्मा भी उन्हीं के समान है। ऐसे भगवान ने स्व एवं पर समस्त लोकालोक रूपी ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जान लिया; अतः उनके ज्ञान से बाहर जानने योग्य कुछ नहीं रहा। इस कारण उनकी दिव्य ध्वनि में विश्व के पदार्थों का जो स्वरूप ज्ञात हुआ, वही प्रकाशित होता है। और वीतरागी होने से किसी के प्रति राग द्वेष नहीं रहता। फलस्वरूप उनके द्वारा प्राप्त हुआ उपदेश प्राणीमात्र को कल्याणकारी होता है, एवं यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक परम सत्य होता है। इसलिये तीर्थंकर अरहंत को हितोपदेशी भी कहा है।

तात्पर्य यह है कि अरहंत भगवंान मोक्षमार्ग के प्रदाता होने से वे ही हमारे आराध्य देव हैं, आदर्श हैं, और उनके समान बनने के उत्कृष्ट प्रेरणा प्रदाता भी हैं। इन्हीं कारणों से उनकी प्रतिकृति अर्थात् प्रतिमा स्थापन कर भव्यजीव उनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उनके बताये मार्ग को अपनाकर, स्वयं उनके समान बनने का पुरुषार्थ जाग्रत करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि अरहंत का बताया हुआ मार्ग ही वीतरागता प्रगट करने का मार्ग होता है, मात्र राग मंद करने का अर्थात् शुभभाव करने का नहीं होता।

सर्वज्ञता का स्वरूप

भगवान अरहंत का ज्ञान स्व-परप्रकाशक होने से दोनों को एक साथ और एक समय में, स्व को स्व के रूप में एवं पर को (लोकालोक को) पर के रूप में जानता है।

पदार्थों (द्रव्यों) में प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण होता है, अतः वे सभी एक साथ एक ही समय में ज्ञान के ज्ञेय बनने की योग्यता वाले होते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है। प्रमेयत्व गुण तो छहों जाति के अनन्तानन्त द्रव्यों में है; अतः वे सभी एक साथ और एक ही समय में अनन्त सर्वज्ञों के ज्ञान के भी ज्ञेय बन सकते हैं। दूसरी ओर ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि जिनमें भी प्रमेयत्व गुण हो, उन सबको एक समय में एक साथ जान लेवे। जानने की क्रिया अमूर्तिक आत्मा के अपने ही प्रदेशों में, ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुए होती है अर्थात् ज्ञेयों के आकार ज्ञान ही परिणमता है, वास्तव में वे ज्ञानाकार ही होते हैं।

प्रमेयत्व गुण तो चेतन-अचेतन सभी पदार्थों में है, अतः वे सभी ज्ञान के विषय बनने के लिए प्रत्येक समय उपस्थित रहते हैं। परन्तु जानने वाले की ज्ञान पर्याय में जिन-जिन को व जितने-जितने पदार्थों को जानने की सामर्थ्य प्रगट होती है, उस समय वे ही पदार्थ उस पर्याय को ज्ञेयाकार रूप परिणमने में निमित्त होते है अर्थात् कहे जाते हैं और उनका ज्ञान होता हुआ अनुभव में भी आता है। अरहंत भगवान् की ज्ञान पर्याय क्षायिक हो जाने से पूर्ण विकसित हो चुकी है; अतः उसकी सामर्थ्य तो समस्त ज्ञेयों अर्थात् जिनमें भी प्रमेयत्व

गुण हो उन सब ज्ञेयों के आकार रूप, एक ही समय एक साथ परिणमित हो सके ऐसी सामर्थ्य वाली होती है। प्रमेयत्व गुण तो स्व में भी है, अतः स्व सम्बन्धी ज्ञेयाकार भी उनही में सम्मिलित रहते हैं। **तात्पर्य यह है कि स्व एवं पर समस्त ज्ञेयाकारों (परज्ञेयाकार में लोकालोक के समस्त पदार्थ आ जाते हैं) रूप परिणमित ज्ञान पर्याय सर्वज्ञ भगवान को प्रत्येक समय सहज रूप से वर्तती है।** इस प्रकार समस्त ज्ञेयों का ज्ञान अरहंत भगवान को सहज स्वाभाविक रूप से प्रतिसमय वर्तता रहता है; किसी प्रकार का श्रम (पुरुषार्थ) नहीं करना पड़ता। ऐसी आत्मा की सर्वज्ञत्व शक्ति होती है।

उनका स्व (त्रिकाली ज्ञायक) में अपनापन होने से, आत्मा के अनन्तगुण भी उस ओर ही झुक जाते है उनमें चारित्र गुण भी होता है, उसका कार्य है स्व रूप में स्थिरता लीनता। और उनमें सुख गुण भी होता है, उसका कार्य है अनाकुल आनन्द होना। इस प्रकार चारित्र भी क्षायक हो जाने से एवं अतीन्द्रिय सुख की प्रगटता हो जाने से स्व में अत्यन्त लीनता पूर्वक वर्तने लगता है, **फलतः आत्मा के अनन्त गुण भी स्व में तन्मयतापूर्वक लीन रहते हुए वर्तने लगते हैं। इस स्थिति में भी सर्वज्ञ भगवान को पर ज्ञेयाकारों का ज्ञान तो वर्तता है; लेकिन वह ज्ञान लीनता-तन्मयता रहित, मात्र ज्ञान ही रहता है, तत्सम्बन्धी वेदन नहीं होता अर्थात् किसी भी प्रकार के आकर्षणों से रहित मात्र ज्ञान रहता है।** इस प्रकार अरहंत भगवान, स्व-पर समस्त ज्ञेयाकारों को स्वमुखापेक्षी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा तन्मयतापूर्वक जानने से अनन्त अतीन्द्रिय अनाकुल सुख को अनन्त काल तक भोगते रहते हैं।

अज्ञानी के ज्ञान का भी स्वभाव, तो अरहंत भगवान

के समान स्व-पर-प्रकाशक व दोनों को एक साथ एक समय जानने का है। और ज्ञान के जानने की प्रक्रिया भी दोनों की समान है। जिस तरह अरहंत, अपने प्रदेशों में रहते हुए अपनी ज्ञान पर्याय को जानते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी भी, अपने प्रदेशों में रहते हुए, अपनी स्व-पर ज्ञेयाकार परिणत ज्ञान पर्याय को ही जानता है। लेकिन अज्ञानी का पर में अपनापना होने के कारण, उसका ज्ञान पर की ओर झुका रहता है। **इसलिये उसको पर ही स्व के रूप में ज्ञात होता है। वास्तव में जानने का कार्य तो अपनी ज्ञानपर्याय में होता है अर्थात् ज्ञान पर्याय ही ज्ञेय के आकार परिणत होती है और अज्ञानी भी उसी को जानता है; लेकिन अपनापना पर में होने से, रुचि परज्ञेय को जानने की रहती है। फलतः ज्ञान भी परज्ञेयों की ओर झुक जाता है और मानता है कि मैं ज्ञेय पदार्थों को जान रहा हूँ, अपनी ज्ञानपर्याय को नही।** ऐसा ज्ञान परलक्ष्यी अर्थात् बहिर्मुखापेक्षी होकर परिणमता होने से इन्द्रियाधीन होकर कार्य करता है। फलतः किसी इन्द्रिय के विषय को अनुकूल मानकर उससे राग करने लगता है और किसी को प्रतिकूल मानकर द्वेष करने लगता है; इसी प्रकार करता हुआ संसार बढ़ाता रहता है। ऐसा ज्ञान इन्द्रियाधीन वर्तने के कारण अत्यन्त कुण्ठित होकर प्रवर्तता है। इसलिये सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञान, अतिदीन-हीन होकर परिणमता है। **ऐसे ज्ञान में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती।**

ऐसा अज्ञानी भी जब श्री गुरु के उपदेश एवं जिनवाणी के सम्यक् अध्ययन चिंतन-मनन द्वारा इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि "मैं तो सर्वज्ञ स्वभावी त्रिकाली ज्ञायक अरहंत सदृश्य आत्मा हूँ, मैं भी स्व-पर ज्ञेयों के आकार परिणत अपनी ज्ञान पर्याय को जानने वाला हूँ, ज्ञेयों को नहीं। और वे ज्ञेय भी स्वतंत्र सत्ता धारक पदार्थ होने से अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणम रहे है और परिणमेंगे,

उनके जानने नहीं जानने पर भी उनके परिणमन में कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है। अतः स्व सन्मुखता छोड़कर उनके सन्मुख वृत्ति होने से मेरी ही हानि है।'' ऐसे निःशंक निर्णय के बल से, पर की ओर से वृत्ति सिमटकर स्व-सन्मुख होती है। और सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञायक में अपनेपन की श्रद्धा जाग्रत हो जाती है; फलस्वरूप ज्ञेयों में परपना आ जाने से, ज्ञेयों को जानने का उत्साह भी नहीं रहता। **तात्पर्य यह है कि पर में अपनापन होने से जो ज्ञान पर की ओर झुका रहकर कार्यशील हो रहा था, वही ज्ञान उधर से व्यावृत्य होकर स्व की ओर झुकता हआ कार्यरत हो जाता है;** अर्थात् स्वमुखापेक्षी होकर कार्यरत हो जाता है। ज्ञान स्वाभाविक क्रिया होने से उसका द्रव्य के साथ तादात्म्य रहता है, फलतः स्व अर्थात् ज्ञायक में अपनापन होने से उसको आंशिक तन्मयतापूर्वक जानना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार अपने अनाकुल स्वभावी सुख को भोगने की पात्रता प्रगट कर लेता है। ऐसा होने पर भी ज्ञानी को चारित्र की निर्बलता से, पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भाव होते है लेकिन वे अपनत्वबुद्धि पूर्वक के नहीं होते।

उक्त दशा रूप परिणमने का आत्मा का स्वभाव है, ऐसा स्वंभाव अरहंत भगवान को पूर्ण प्रगट हो जाने से, वे तो उसका निरन्तर अनुभव करते हैं और अनन्तकाल करते रहेंगे। **लेकिन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि का, अपनापन तो अरहंत के समान ज्ञायक में हो जाता है; लेकिन चारित्र की पूर्णता नहीं होने से स्थिरता पूर्ण नहीं होती, मात्र स्वरूपाचरण चरित्र प्रगट होना है।** फलस्वरूप ज्ञायक में अपनत्व रहने के कारण, परिणति का झुकाव तो स्व की ओर अनवरत रूप से बना रहता है, परन्तु चारित्र की कमी के कारण ज्ञान, ज्ञेयों की ओर भी आकर्षित हो जाता है; फिर भी अपनत्व स्व में होने से, ज्ञेयों में एकत्व नहीं होता। **और ज्ञेयों के स्वतंत्र परिणमन**

की श्रद्धा एवं ज्ञेयों का ज्ञान भी आत्मा की पर्याय ही है, ऐसी निःशंक एवं अकाट्य श्रद्धा के बल से, परिणति का झुकाव स्व की ओर बना रहता है। और स्व में अपनत्व होने से, ज्ञान के स्वमुखापेक्षी परिणमन में, सहज ही परज्ञेयों का ज्ञान भी होता रहता है। फिर भी मिथ्यात्व जनित रागादि उत्पन्न होने का अवकाश नहीं रहता। उक्त प्रकार की श्रद्धा जाग्रत रहने से, पर को अपनत्वपूर्वक जानने का उत्साह ही नहीं रहता, तो पर में करने धरने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। फलतः परिणति सब ओर से सिमट कर अपने ज्ञायक में संवृत रहती है और क्रमशः द्वैत का भी अभाव होकर निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है।

इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभाव की एवं ज्ञान के परिणमन की स्वाभाविक प्रक्रिया की श्रद्धा से अपने ज्ञायक की महिमा आकर, परज्ञेयों की महिमा ढ़ीली हो जाती है, और उनसे अपनत्व टूटकर, ज्ञायक में अपनेपन की श्रद्धा जाग्रत हो जाती है। ऐसी महान उपलब्धि है, अरहंत स्वभावी ज्ञायक की श्रद्धा की एवं उनके द्वारा प्रकाशित मार्ग पर निःशंक श्रद्धा करने की।

दिव्य ध्वनि का प्रकाशन

अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि तो अक्रम रूप से अन्तर्मुहूर्त मात्र में समस्त पदार्थों के स्वरूप को एक साथ प्रकाशित कर देती है; उसको एक साथ ग्रहण करने की सामर्थ्य के धारी गणधर देव भगवान होते हैं। वे परम वीतरागी, प्रत्येक अन्तमुर्हूर्त में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने वाले भावलिंगी संत होते हैं। अपने श्रुतज्ञान की सामर्थ्य से दिव्य ध्वनि ग्रहण कर, द्वादशांग रूप द्रव्य श्रुत की रचना करके प्रकाशित करते हैं। **वे स्वयं वीतरागी होने से**

उनकी रचना भी मात्र वीतरागता प्रगट करने का मार्ग बतानेवाली होती है, रागांश को मोक्षमार्ग बताने वाली नहीं। इस प्रकार समस्त द्रव्यश्रुत अर्थात् जिनवाणी का तात्पर्य एक मात्र वीतरागता ही है, यह सिद्ध होता है। इसीलिये कहा है कि ''वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है'' और पंचास्तिकाय गाथा 172 की टीका में ''द्वादशांग का तात्पर्य वीतरागता'' बताया है।

इसी प्रकार अरहंत की दिव्यध्वनि में प्रकाशित मार्ग, गणधर भगवान द्वारा विस्तरित होकर, उनकी परंपरा में हुवे अनेक दिगम्बर भावलिंगी वीतराग परिणत संतों द्वारा परंपरा से चलता चला आ रहा है और दिव्य ध्वनि के सार रूप में आज, भी हमको समयसारादि अनेक ग्रंथों द्वारा उपलब्ध है। **इनकी रचना भी प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में झूलने वाले वीतरागी भावलिंगी संतों से हुई है, इसलिये इन शास्त्रों के कथनों का तात्पर्य भी वीतरागता को धर्म बताने वाला ही होता है, शुभराग को नहीं।**

वर्तमान के दुःषमकाल में अनेक अज्ञानीजनों ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की है और उनमें आचार्यों के नाम देकर वीतरागता के विपरीत रागपोषक मार्ग को प्रचारित करने की कुचेष्टा की है। बहुत से कथित मुमुक्षु जनों ने भी वीतरागता उत्पादक यथार्थ मार्ग के विपरीत अपनी-अपनी कल्पना से अनेक मार्ग विकसित कर लिये हैं। **इसलिये सच्चे आत्मार्थी को उन सबसे सावधान रहकर, जिस मार्ग को अपनाने से परिणति में वीतरागता की उत्पत्ति होती हो, मात्र उसी मार्ग को अपनाना चाहिये। इसी आशय का समर्थन समयसार कलश टीका के कलश 142 के अर्थ से एवं उसी कलश पर पू.श्री कानजी स्वामी के ता. 23.11.77**

के प्रवचनों में किया है। यथार्थता की कसौटी एक मात्र वीतरागता है। अर्थात् **मात्र त्रिकाली ज्ञायक अकर्ता स्वभावी आत्मतत्त्व में अपनत्वबुद्धि उत्पन्न होकर, ज्ञेय मात्र में परत्वबुद्धि हो और उनके परिणमनों के प्रति निरपेक्ष भाव जाग्रत हो, एकमात्र यही वीतरागता की पहिचान है।** इसके द्वारा परीक्षाकर आत्मार्थी को सत्यार्थ मार्ग को ग्रहण करना चाहिये; **सरलता के लोभ में मिथ्या मार्ग में फँसने से बचे रहना चाहिये,** यही सारभूत है।

उक्त वीतरागता की साधना में संलग्न और सत्यार्थ मार्ग प्रकाशक ऐसे साधु परमेष्टी का समागम प्राप्त कर, उनसे उपदेश ग्रहण कर तदनुकूल साधना प्रारम्भ करना चाहिये। **इन्हीं कारणों से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही, आत्मार्थी के लिये सत्यार्थ मार्ग प्रदाता होने से परम आराध्य एवं पूज्य हैं।** इनको निश्चय सम्यक् दर्शन का निमित्त होने से तथा इनके प्रति एवं वीतरागी मार्ग के प्रति निःशंक श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहा है।

तात्पर्य यह है कि वीतरागता की साक्षात् मूर्ति सर्वज्ञ भगवान की दिव्य ध्वनि द्वारा प्रकाशित मार्ग ही हमको वर्तमान में जिनवाणी द्वारा उपलब्ध है, उसको अध्ययन कर और वीतरागता की कसौटी पर कसकर, निःशंक और कटिबद्ध होकर मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ 248 पर बताई गई पद्धति अपनाकर, निर्णयकर, तदनुसार अपनी परिणति में वीतरागता उत्पन्न कर, सम्यग्दर्शन प्रकट करना चाहिये; यही प्रयोजनभूत है।

आगम ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है

आगम का वचन है – **''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं'', सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण अर्थात् सत्यार्थ कहते हैं।** ऐसे प्रमाण के दो भेद हैं

– प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण रूप सम्यग्ज्ञान तो केवली भगवान को है किन्तु हम छद्मस्थों को तो परोक्ष ज्ञान ही होता है। परोक्ष ज्ञान के भेद, आगम-तर्क-अनुमान आदि हैं। **और निर्णय तो आगम आदि परोक्ष प्रमाणों द्वारा होता है। सम्यक् श्रद्धान सम्यक् निर्णय से होता है। और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। इसलिये आगम ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान का कारण है। समयसार गाथा 5 की टीका के अनुसार भी आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।** लेकिन इतना अवश्य है कि **आगम वही है जो वीतरागी मार्ग का पोषक हो। प्रत्येक रचना को आगम नहीं मान लेना चाहिये। यह आत्मार्थी की जिम्मेदारी है।**

वर्तमान काल में अरहंत परमात्मा का तो विरह है और वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों के दर्शन भी दुर्लभ हैं फिर भी पंचम काल में सम्यग्दर्शन तो होता ही है; अतः स्पष्ट है कि वर्तमान काल में तो मात्र एक जिनवाणी ही शरणभूत है। **इसलिये जिनवाणी को सर्वज्ञ प्रणीत मानकर, वीतरागता रूपी कसौटी पर कसकर, निःशंक होकर ग्रहण करना चाहिये। समझने में कठिनता होने पर, जिनवाणी के सत्यार्थ अध्येता पुरुषों का एवं ज्ञानी जनों का समागम प्राप्त करना चाहिये, उनके उपदेश को सर्वज्ञ कथित मानकर श्रद्धा के साथ ग्रहण करना चाहिये। उपदेश को, श्रवण, ग्रहण, धारण, अवधारण के क्रम से प्राप्त कर, फिर एकान्त में बैठकर उपदेश की शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ द्वारा परीक्षा करके वीतरागता रूपी कसौटी पर कसकर, उपदेश का भावार्थ निकालकर यथार्थ निर्णय कर लेना चाहिये।** ऐसे निर्णय से, श्रद्धा में परिणमन होता है, अर्थात् ज्ञायक के प्रति रुचि जाग्रत होती है। यह एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो कि अन्य प्रकार से नहीं होती।

द्रव्यश्रुत परोक्ष प्रमाण रूपी सम्यग्ज्ञान है, अतः उसका प्रत्येक शब्द सम्यक् होने से, सत्यार्थ मार्ग का प्रकाशक होता है, इसलिये द्रव्यश्रुत भी सम्यग्ज्ञान है। इसका उपदेश करने वाला सम्यग्दृष्टि ही होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है। वक्ता अथवा श्रोता कोई भी हो, किन्तु जो कथन के अनुसार परिणमन करेगा वही सम्यग्ज्ञानी हो सकता है, यह नियम है। **इसलिये आत्मार्थी को उपदेश को सत्यार्थ मानकर, रुचि पूर्वक सुनकर, ग्रहणकर, उस उपदेश की परीक्षा करनी चाहिये, उपदेशक की नहीं; क्योंकि हमारे कल्याण अथवा अकल्याण का कारण तो उपदेश होता है, उपदेशक नहीं।** तात्पर्य यह है कि जैसे बने वैसे सत्यार्थ मार्ग का निर्णय कर लेना चाहिये।

यह भी सत्य है कि **सम्यज्ञानी पुरुष के द्वारा प्राप्त देशना ही यथार्थ देशना है और वही देशना सफल होती है;** लेकिन यह भी सत्य है कि ज्ञानी की देशना प्राप्तकर, जिसको सम्यग्दर्शन नहीं भी प्रगट हुआ हो, परन्तु **देशना परिणति में बस गई हो तो वही देशना किसी भी निमित्त से स्मृति में आकर कार्यकारी हो जाती है।** क्योंकि पंचम काल के जीवों को सम्यग्दर्शन होने का विधान जिनवाणी में है। और पंचम काल में कहीं से भी सम्यग्दृष्टि मरणकर जन्म लेता नहीं; ऐसी स्थिति में ज्ञानी पुरुषों का समागम सर्वत्र तो मिल नहीं सकता, तो क्या जिनवाणी का कथन मिथ्या हो जावेगा? और क्या सम्यग्दर्शन का उत्पन्न होना पराधीन हो जावेगा ? ऐसा नहीं है। इसलिये इस प्रकार की मान्यता पुरुषार्थ हीनता की सूचक है। **वास्तव में केवलज्ञानी अथवा सम्यग्ज्ञानी की देशना का महत्त्व इसलिये है कि उनके द्वारा जो दृष्टि उपदेश समझने के लिये प्राप्त होती है, उसके द्वारा जिनवाणी के कथनों की अपेक्षाओं**

को समझकर, उसमें से सरलता पूर्वक अपने प्रयोजनभूत मार्ग को निकाल लिया जाता है। उक्त दृष्टि प्राप्त हुये बिना जिनवाणी के अध्ययन से यथार्थ मार्ग निकालना असम्भव तो नहीं लेकिन कठिन अवश्य है। **पुरुषार्थ हीन होना तो आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है। ऐसा मानना कि ऐसी देशना हमको पूर्व के भवों में कभी प्राप्त नहीं हुई है, यह तो अभव्यता का सूचक है।** इसलिये ज्ञानी पुरुषों के अभाव में जिनवाणी की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अपितु सदैव वीतरागी परिणति की कसौटी को जाग्रत रखते हुए यथार्थ निर्णय करना चाहिये। तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि ''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'' और मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि ''तत्त्व निर्णय ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है आदि-आदि।

नयज्ञान की आवश्यकता

प्रश्न – वस्तु तो अनेक भेदों एवं अभेद के समुदाय एक रूप है जैसे प्रदेश भेद, गुण भेद, पर्याय भेद आदि एवं उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय तथा ध्रुव स्वभावी द्रव्य ऐसे द्वैतवाली है; ऐसी वस्तु में अपनेपने का निर्णय कैसे हो ?

उत्तर – उक्त प्रश्न का समाधान तत्त्वार्थ सूत्र के निम्न सूत्र से हो जाता है; ''प्रमाणनयैरधिगमः''। अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये उक्त पदार्थों में प्रयोजनभूत अपने आत्मा को नयज्ञान से समझना चाहिये।

प्रमाणनयैरधिगमः

विश्व की प्रत्येक वस्तु भेद और अभेदात्मक है, ऐसी वस्तु को समझने का नाम ही तत्त्व निर्णय है। उन सब में प्रयोजनभूत वस्तु

तो मेरा आत्मतत्त्व है। **इसलिये आत्मतत्व को स्व के रूप में एवं अन्य सब को पर के रूप में समझकर निर्णय करना ही तत्व निर्णय है।** ऐसी वस्तु का अधिगम अर्थात् ज्ञान करने-समझने का उपाय ही प्रमाण एवं नय ज्ञान बताया है। भेदाभेदात्मक समग्रवस्तु को समझने का नाम प्रमाण है और उसी वस्तु के मात्र अभेद पक्ष को समझने का नाम द्रव्यार्थिक नय है एवं भेद पक्ष को समझने का नाम पर्यायार्थिकनय है। **यहाँ प्रमाण का तात्पर्य ''सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं'' से नहीं है,** यह तो अभेद-अखण्ड-समग्रवस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक प्रमाण है।

आगमपद्धति एवं अध्यात्मपद्धति

जिनागम का बहुभाग कथन दो पद्धतियों की मुख्यता से किया गया है। एक आगम पद्धति और दूसरी अध्यात्म पद्धति। **आगम पद्धति में द्रव्यों के स्वभाव, उनकी स्वरूप रचना एवं उनके आपस के संबंधों आदि की मुख्यता से कथन किया गया होता है, इसके विषय आत्मा सहित छहों द्रव्य होते हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता एवं उनके निरपेक्ष परिणमन की स्वतंत्रता सिद्ध करना, यह उसका उद्देश्य होता है। अध्यात्म पद्धति में अकेले जीव की शक्ति व सामर्थ्य के ज्ञान द्वारा उसके स्वाभाविक परिणमन और वैभाविक परिणमनों का ज्ञान कराकर, स्वाभाविक परिणमन कराने के मार्ग को समझा कर, भेदज्ञान द्वारा स्वरूप प्राप्ति के प्रयोजन की मुख्यता से कथन किया गया होता है। इसका मुख्य विषय ज्ञायक आत्मा होता है एवं गौण रूप से ज्ञेय होते हैं।**

आगम पद्धति के प्रमाण का विषय छह द्रव्यों के समुदाय रूप

लोक रहता है। उसमें भी प्रत्येक द्रव्य के समस्त गुण व निर्विकारी विकारी परिणमनों के समुदायरूप अभेद-अखण्ड-समग्र द्रव्य रहते हैं। इसके नयों का उद्देश्य प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करते हुए, आपस में एक दूसरे के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एवं उनके भेद का ज्ञान कराकर, पुरुषार्थ को सब ओर से समेटकर, अकेले जीव द्रव्य में मर्यादित कराना होता है।

अध्यात्म पद्धति के प्रमाण का विषय, अकेला अपना जीवद्रव्य रहता है छह द्रव्य का समुदाय रूप लोक नहीं। उसमें भी उसके अनन्तगुण व उसकी विकारी-निर्विकारी पर्यायें सब मिलाकर पूरा आत्मद्रव्य प्रमाण का विषय है। इसके नयों का उद्देश्य होता है, उक्त प्रमाण रूपद्रव्य में, भेदज्ञान पद्धति अपनाकर, नित्यस्वभावी अनन्तगुणों का अभेद-अखण्ड पिण्ड ऐसे ध्रुव ज्ञायक का स्वरूप एवं अनित्यस्वभावी-उत्पाद-व्यय पर्याय एवं उसके विकारी-निर्विकारी स्वरूप को समझाकर तथा ज्ञान का ज्ञेयमात्र से भेदज्ञान कराकर, ज्ञायक ध्रुव में अपनत्वबुद्धि कराना। उसके द्वारा पर से अपनत्व छूटकर, ज्ञायक ध्रुव में अपनत्व हो जाता है।

दोनों पद्धतियों के नयों का प्रयोग सविकल्पक ज्ञान में होता है; भेदज्ञान द्वारा ज्ञायक में अपनत्व पूर्वक, जब ज्ञान शुद्ध द्रव्यार्थिकनय एवं परम शुद्ध निश्चयनय के विषय में एकाग्र होता है तब नयविकल्प भी अनुभव के बाहर रह जाते हैं और ज्ञान निर्विकल्पक होकर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ले लेता है।

उक्त सविकल्पक नयों का प्रयोग भी दो उद्देश्यों को लेकर दो प्रकार से होता है। रुचिपूर्वक जब नय के विषय को **समझने के लिये नय का प्रयोग रहता है तब तक ज्ञान बर्हिलक्ष्यी होकर प्रवर्तता है और वही नयज्ञान जब निर्णीत विषय में परिणति को**

एकाग्र होने के लिए प्रवर्तता है, तब वही ज्ञान अन्तर्लक्ष्यी होकर प्रवर्तने लगता है। तत्पश्चात् वह अन्तर्लक्ष्यी सविकल्पक नयज्ञान भी अनुभव के बाहर रहकर, निर्विकल्पक हो जाता है।

आगम, अध्यात्म पद्धतियों के नयों के नाम भी अलग-अलग हैं। आगम के नयों के नाम द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय हैं और अध्यात्म के नय निश्चय एवं व्यवहारनय हैं दोनों प्रकार के नय परस्पर सापेक्ष होते हैं। क्योंकि **आगम अधात्म का पूरक है और अध्यात्म का आधार आगम है; इस प्रकार दोनों पद्धति की सापेक्षता रहती है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का उद्देश्य मुख्यतः वस्तु का स्वरूप समझाकर मोक्षमार्ग प्रारम्भ कराना होता है और निश्चय व्यवहारनय का उद्देश्य भी उक्त वस्तु स्वरूप को समझकर मोक्षमार्ग रूपी प्रयोजन सिद्ध करना होता है।** द्रव्यार्थिक नय के विषय में अपनत्व करके पर्यायार्थिक नय के विषयों में अपनत्व छुड़ाने का आगम के नयों का प्रयोजन होता है। और उक्त प्रयोजन की सिद्धि जिस प्रकार से हो, उसका मार्ग एवं विषय समझाकर, उसका उपाय वह निश्चय-व्यवहारनय है। **वस्तु स्वरूप एवं मार्ग समझने के लिये तो, चारों प्रकार के नय समान एवं सत्यार्थ होने के साथ उपयोगी भी हैं;** लेकिन साधना के लिये तो द्रव्यार्थिकनय का विषय सदैव अपनत्व करने योग्य होने से उपादेय रहेगा एवं पर्यायार्थिक नय के विषय अपनत्व छोड़ने योग्य होने से हेय रहेंगे। इसी प्रकार **निश्चयनय का विषय सत्यार्थ एवं भूतार्थ होने से एवं सदैव आश्रयभूत होने से उपादेय रहेगा एवं व्यवहार नय तो अभूतार्थ-असत्यार्थ होने से परत्वबुद्धिपूर्वक आश्रय छोड़ने योग्य होने से सदैव हेय रहेगे।**

प्रमाण एवं उक्त दोनों प्रकार के नय सम्यग्ज्ञान के अंश होने

से प्रमाणभूत हैं तथा वस्तु एवं उनके परिणमन उनके विषय हैं; अतः दोनों ही सत्यार्थ हैं; इसलिये इनको प्रमाणभूत और सत्यार्थ मानकर अपनाना चाहिये। अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिये, उक्त नयों का प्रयोग कर प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिये और ज्ञानी होने के पश्चात् तो ज्ञानी का ज्ञान स्वयें नयादि रूप परिणमने लगता है।

इस प्रकार दोनों पद्धतियों को समझकर, यथायोग्य स्थान पर यंथायोग्य प्रकार से अपनाकर, मोक्षमार्गरूपी प्रयोजन सिद्धकर लेना चाहिये, यही सारभूत है।

आत्मवस्तु एवं ध्रुव ज्ञायक का स्वरूप

ज्ञायक का स्वरूप समझने के पूर्व, आत्मवस्तु अर्थात् समग्र आत्मपदार्थ को समझना चाहिये। ध्रुव को और पर्याय को वस्तु का अंश भी कहा जाता है, लेकिन यह अपेक्षा यहाँ नहीं लेना। सिद्धदशा होने पर, जिस रूप पर्याय में प्रगट होकर आत्मवस्तु अनन्त काल तक रहती है, वह आत्मा का असली स्वरूप अर्थात् स्वभाव है ऐसा यहाँ समझना। ऐसा स्वभाव, स्वभाववान् से अलग नहीं होता इसलिये वह स्वभाव अर्थात् स्वरूप निगोद दशा में भी ध्रुव बना रहता है। इसी कारण उस स्वभाव की ध्रुव संज्ञा है। विकृत परिणमन के समय भी, ध्रुव तो अभेद अखण्ड अनवरत रूप से वर्तता रहता है। इसलिये आत्मार्थी जिस समय भी परिणमन को गौण करके आत्मा को देखे तो संपूर्ण आत्मा सिद्ध सदृश्य ज्ञात होगा। श्रद्धा ज्ञान में उक्त स्वभाव को जाग्रत रखते हुए ही पर्याय के स्वभाव को समझना चाहिये। पर्याय (परिणमन) में विकृति अनित्य स्वभावी होने से, प्रति समय बदल जाने वाली है। और सिद्ध दशा होने पर तो विकृति का अभाव ही हो जाता है। **इसलिये विकृति का अभाव करने के लिये**

पर्याय के अस्तित्व का काल एक समय का मानकर, पर्याय की तुच्छता की श्रद्धापूर्वक, ध्रुव में अपनत्व स्थापन करना चाहिये। ऐसी श्रद्धा के बल से सहज रूप से विकृति के अभाव की श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है।

उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु, ध्रुव ज्ञायक का स्वरूप समझने के पूर्व, समग्र आत्मवस्तु का अर्थात् प्रमाणज्ञान के विषयभूत आत्मा का स्वरूप समझना आवश्यक है। क्योंकि नय की उत्पत्ति प्रमाण के ज्ञानपूर्वक होती है और ध्रुव ज्ञायक द्रव्यार्थिकनय का विषय है। इसलिये भी प्रथम प्रमाण रूप आत्मवस्तु को समझना चाहिये।

प्रमाण की विषय आत्म वस्तु

अरहंत भगवान की प्रगट पर्याय के समान, अनेक विशेषताओं एवं शक्तियों का अभेद अखण्ड-पिण्ड मेरी आत्मवस्तु है और उसका स्वभाव त्रिकाल उस रूप रहने का ही है। अरहंत भगवान के ज्ञान में भी वही स्वरूप आ रहा है, और साधक ज्ञानी को भी निर्विकल्प अनुभव के समय वही स्वरूप अनुभव में आता है। ऐसी अभेद आत्मवस्तु को यथार्थ प्रकार से समझने के लिये औषधि एकमात्र नयज्ञान है। **उस अखण्ड अभेद वस्तु को ही भेद करके नयज्ञान द्वारा समझा जाता है। क्योंकि अज्ञानी उसके बिना समझ नहीं सकता।** वस्तु तो सामान्य विशेषात्मक अभेद एक है, और समग्र वस्तु, अरहंत के समान त्रिकाल ध्रुव रहती है। समग्र वस्तु ध्रुव रहने के साथ प्रतिसमय परिणमन भी करती है; इसलिये उसके परिणमन का अनुभव-स्वाद प्रत्येक समय अभेद एक ही आता है। ऐसी समग्र-वस्तु को जानने वाला ज्ञान भी, दो भागों में विभाजित हो जाता है। उसके नाम भी दो हो जाते हैं। वस्तु में इस प्रकार के भेद,समझने

अथवा कल्पना मात्र के लिये नहीं है, अपितु वस्तु स्वयं उस प्रकार की है। उक्त नयों का विषय, वस्तु में सदैव विद्यमान रहता है; इसी कारण जिनवाणी में नय को एवं नय के विषय को, नय के नाम से समझाने की पद्धति है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय

उक्त वस्तु के द्रव्यपक्ष में तो, आत्मा का विशेषों से निरपेक्ष सामान्य स्वभाव, प्रदेश भेदों से निरपेक्ष अभेद स्वभाव व समय-समय पलटने वाली पर्यायों की अनित्यता से निरपेक्ष काल का एक प्रवाह रूप नित्य स्वभाव एवं गुणभेदों की अनेकताओं से निरपेक्ष एक स्वभाव; इस प्रकार सभी प्रकार के भेदों से रहित एक भाव, जिसमें ज्ञान-ज्ञेय ज्ञाता का भेद भी नहीं है ऐसा अनादि अनन्त रहने वाला ध्रुव ज्ञायक, वह द्रव्य है। अरहंत को यही चिन्मात्र भाव त्रिकाल अनुभव में प्रत्यक्ष रहता है और छद्मस्थ साधक को निर्विकल्प आत्मानुभूति में परोक्ष रूप से ज्ञात होता है किन्तु श्रद्धा में पूर्ण व्यक्त रहता है। द्रव्यपक्ष को जानने वाले ज्ञान को जिनवाणी में द्रव्यार्थिकनय कहा है। और इसके विषय को दृष्टि का विषय, परमपारिणामिकभाव-कारण परमात्मा-ज्ञायकभाव आदि नामों से कहा है। ऐसा द्रव्यपक्ष ही एकमात्र अपनत्व करने योग्य है, क्योंकि यही स्थाई और एकरूप रहनेवाला भाव है।

वर्तमान प्रकरण में सभी भेदों से रहित द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायक जो चिन्मात्र ज्योति है, उसी को द्रव्य के नाम से कहा है; छह द्रव्यों वाले प्रमाणभूत आत्मद्रव्य को द्रव्य कहने का यहाँ अभिप्राय नहीं है। इसी प्रकार जिसमें उक्त सभी भेद गर्भित हैं, ऐसी पर्यायार्थिकनय

की विषयभूत पर्याय को पर्याय के नाम से कहा है; यहाँ उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय को पर्याय कहने का अभिप्राय नहीं है। ऐसा प्रस्तुत विवेचनों में सर्वत्र लक्ष्य में रखने योग्य है। जिसमें अपनत्व करने की चर्चा हो, उस विषय को ध्रुव, ज्ञायक, चिन्मात्रज्योति आदि किसी भी नाम से कहा गया हो, वह चारों प्रकार के भेदों से एवं ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान के भेद से भी रहित, जो दृष्टि का विषय है, वह एक समझना। और जिनमें अपनत्व छोड़ना है, उसको परिणमन-पर्याय-भेद अथवा ज्ञेय आदि किसी भी नाम से कहा हो उसको पर्याय समझना; उसमें सभी भेदों एवं उपचारों के विषयभूत अथवा ज्ञेय आदि विषयों का समावेश समझ लेना; मात्र उत्पाद-व्यय स्वभाववाली पर्याय नहीं। क्योंकि उस पर्याय का तो काल के अनित्य स्वभावी भेद में समावेश हो जाने से उसका तो चारों भेदों के साथ निषेध हो ही जाता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य में नहीं होते हुऐ भी जो ज्ञान के विषय होते हों, उन सभी को जानने वाले ज्ञान का नाम पर्यायार्थिकनय है। इस नय के विषय, आत्मा में रहने वाले सामान्य-विशेष के भेद में से विशेष, असंख्य प्रदेशी अभेद पिण्ड में भेद करने को भेद, समय-समय उत्पाद-व्यय करने वाली पर्यायों का प्रवाह त्रिकाल नित्य होते हुए भी समय-समय की अपेक्षा के भेद करने को अनित्य, तथा अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड एक होने पर भी उनमें गुणों के भेद, **तथा ज्ञान-ज्ञेय आदि अन्य किसी अपेक्षा भी द्रव्य को भेद करके ज्ञान में लेना, वह सब पर्याय है और पर्यायार्थिकनय का विषय है।** इस प्रकार पर्यायार्थिक नय के विषयों का विस्तार बहुत बड़ा है।

द्रव्यार्थिकनय का विषय तो अद्वैत एक ही रहता है;

लेकिन पर्यायार्थिकनय के विषय तो अनेक होते हैं और वे इन्द्रिय ज्ञान के विषय बनते हैं। अनादि से अज्ञानी की पर में अपनेपने की मान्यता श्रृंखलाबद्ध चली आती है; फलतः पर्यायार्थिकनय के विषयों में बिना प्रयास के उसकी श्रृंखलाबद्ध अपनत्वबुद्धि चली आ रही है। **तात्पर्य यह है कि द्रव्यार्थिकनय के विषय में अपनत्व तो मोक्षमार्ग की श्रृंखला प्रारम्भ करता है और पर्यायार्थिकनय के किसी भी विषय में अपनत्व, संसार मार्ग की श्रृंखला चालू रखता है। इस अपेक्षा मोक्षमार्ग में द्रव्यार्थिकनय को उपादेय भी माना है।**

प्रश्न – उक्त कथनों से तो ऐसा लगता है कि प्रमाणरूप वस्तु के दो भाग हो जाते हैं ?

उत्तर – नहीं ऐसा नहीं है। आत्मवस्तु की सत्ता तो अखण्ड और अभेदरूप एक ही रहती है, अखण्ड का खंड नहीं होता एवं अभेद के भेद नहीं हो जाते।

समग्रवस्तु अनादिअनन्त अभेद-अखण्ड-सिद्ध के समान एक सरीखी ध्रुव रहते हुए भी, वही वस्तु पलटती भी रहती है। ऐसी समग्रवस्तु ही प्रमाण का विषय कहलाती है। उसी वस्तु को, पर्यायार्थिक नय से निरपेक्ष, द्रव्य स्वभाव को मुख्य कर देखा जावे तो वह वस्तु सिद्ध के समान त्रिकाल शुद्ध भासित होती है, और वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है। और उसी समग्रवस्तु को द्रव्य स्वभाव से निरपेक्ष रहकर, मात्र पलटने के स्वभाव की मुख्यता से देखा जावे तो वही वस्तु पर्याय जैसी ही भासित होने लगती है। **इसप्रकार स्पष्ट है कि वस्तु के 2 भाग नहीं होते वरन् समग्रवस्तु को देखने की दृष्टि दो हो जाती हैं।**

निश्चय-व्यवहारनय

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तो मुख्य रूप से आगम में प्रयुक्त होने वाले नय हैं और निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं। वृहद् द्रव्य संग्रह गाथा 56 में अध्यात्म का अर्थ बताया है कि ''**जो मिथ्यात्व रागादि समस्त विकल्प मात्र के त्याग से, स्व शुद्धात्मा में अनुष्टान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।**'' उक्त परिभाषा के अनुसार जो अपनी शुद्धात्मा में अनुष्टान करावें, वे नय अध्यात्म के नय हैं। **अध्यात्म के नयों का विषय एकमात्र निज आत्मा होता है, और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के विषय आत्मा सहित छहो द्रव्य होते हैं। लेकिन ज्ञायक में अहंपना स्थापन करने के लिये तो दोनों प्रकार के नय यथास्थान-यथायोग्य उपयोगी हैं।** निश्चय-व्यवहारनय अध्यात्म शैली के नय हैं एवं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आगम शैली के नय हैं। परमभावगाही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का जो विषय है, वही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है; और अपनत्व का विषय एवं ध्यान का ध्येय भी वही है। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार के नयों का उद्देश्य तो एक मात्र त्रिकाली ज्ञायक में अपनत्व कराने का होता है। इसलिये आत्मा में अनुष्टान के लिये निश्चय-व्यवहार की उपयोगिता के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।

निश्चय एवं व्यवहार की अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हैं, उनका संक्षेपीकरण निम्न प्रकार है –

1. ''अभेद और अनुपचरित वस्तु को बतावे वह निश्चय'', ''भेद और उपचार करके वस्तु का ज्ञान करावे वह व्यवहार।''

2. ''आत्माश्रित निश्चय'' और ''पराश्रित वह व्यवहार।''

3. ''अभेद सो निश्चय'' और ''भेद वह व्यवहार।''

उक्त परिभाषाओं के द्वारा निश्चय-व्यवहारनयों के स्वरूप को समझकर, उनकी आत्मा के समझने में एवं अनुष्टान में किस प्रकार उपयोगिता है, यह समझेंगे।

वास्तव में आत्मवस्तु तो अभेद अनुपरित अखण्ड एवं एक है; इसलिये ज्ञान की जो पर्याय उक्त वस्तु को विषय करे वह निश्चयनय है। और उस वस्तु के आश्रय से जो कथन हो अथवा ऐसी वस्तु में अपनत्व करने के लिये जो साधना हो वह भी निश्चय है और उसका ज्ञान वह निश्चयनय है। इसी प्रकार आत्मवस्तु अखण्ड-अभेद-एक होने से, उसको वैसी ही जानना वह निश्चयनय, और उसी को भेद-उपचार करके जानना वह व्यवहारनय है। इस प्रकार निश्चय का विषय तो सभी परिभाषाओं के अनुसार अभेद अखण्ड एक ही रहता है; लेकिन अनुचरित्र अभेद-अखण्ड-एकरूप वस्तु में किसी भी अपेक्षा से भेद करना, खण्ड करना, अन्य का उपचार करके वस्तु को अन्य रूप कहना अथवा **कोई भी प्रकार से बताना उस निश्चय स्वरूपी वस्तु को, वह सब व्यवहार एवं व्यवहारनय है।**

तात्पर्य यह है कि ज्ञान के जिस विषय के आश्रय से अर्थात् अपनापन करने से आत्मा में वीतरागता की उत्पत्ति हो, वे सब निश्चय हैं और उनको जानने वाला ज्ञान निश्चयनय है। इसके अतिरिक्त जिस विषय के आश्रय से राग अर्थात् विकल्प की उत्पत्ति हो वह सब व्यवहार है और उनको जानने वाला ज्ञान व्यवहारनय है।

उक्त निश्चयनय एवं व्यवहारनय के भी अनेक भेद हैं; उनमें चार तो निश्चयनय के एवं चार ही व्यवहारनय के हैं। जो आत्मा के गुण-पर्यायों को आत्मा में अभेद करके बतावे वह निश्चय

एवं जो भेदकर के आत्मा को भेद रूप कहे, वह व्यवहारनय है। निश्चयनय के भी भेद दो हैं, अशुद्ध निश्चयनय एवं शुद्ध निश्चयनय; उनमें अशुद्ध निश्चय तो एक ही है। अशुद्ध निश्चय तो अशुद्ध पर्याय को अभेदकर उस रूप आत्मा को बताता है; इस नय से आत्मा विकार का कर्त्ता है, ऐसा मानने से विकार के नाश करने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है एवं विकार का कर्त्ता द्रव्य कर्मादि अन्य द्रव्य को कहना, इसका निषेध हो जाता है। लेकिन शुद्ध निश्चयनय के 3 भेद हो जाते हैं, एकदेशशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चचनय और तीसरा परमशुद्धनिश्चयनय। उनमें से अल्प विकसित एवं निर्मल पर्याय रूप आत्मा को बताने वाला एकदेशशुद्ध निश्चय एवं पूर्ण विकसित निर्मल पर्याय रूप आत्मा को बताने वाला शुद्धनिश्चयनय है। इन दोनों नयों में द्रव्य तो अभेद है, उसी को भेद करके कहा, इसलिये तो निश्चय और अभेद में भेद करके बताने से व्यवहार; इसप्रकार ये दोनों नय भी भेद रूप व्यवहार के विषय हो जाते हैं। तथा सभी शुद्धाशुद्ध पर्यायों से रहित त्रिकाली ज्ञायक भाव रूप आत्मा को बताने वाला नय वह परमशुद्धनिश्चयनय है। और यही अपनत्व का विषय है।

इसी प्रकार व्यवहारनय के भी मूल दो भेद है; सद्भूत एवं असद्भूत। उन दोनों के भी दो-दो भेद हैं, उपचरित सद्भूत एवं अनुचरित सद्भूत तथा उपचरित असद्भूत एवं अनुपचरित असद्भूत। इस प्रकार कुल 4 भेद व्यवहार के हो जाते हैं। उनमें सद्भूत तो उनको कहा है, जिनका आत्मा में सद्भाव हो और असद्भूत उनको कहा है जिनका उनमें तो सद्भाव हो लेकिन आत्मा में उनका असद्भाव हो। इसके अतिरिक्त अभेद आत्मा में गुण भेद आदि के भेद करके बतावे उसको भी सद्भूत कहा है। तथा जिनका आत्मा में तो सद्भाव होता नहीं, मात्र संयोग

सम्बन्ध होता है ऐसे सभी सम्बन्ध असद्भूत कहे गये हैं।

उनमें से सद्भूतनय के विषय, ऐसी अशुद्ध पर्यायें जिनका अभाव हो जाता है, उनका आत्मा में सद्भाव होने से, उस रूप आत्मा को कहना यह उपचरित सद्भूत है और जिनका आत्मा में सद्भाव भी हो और उनका अभाव भी नहीं हो, ऐसी शुद्ध पर्यायें एवं गुणों के भेद रूप आत्मा को बतावे, वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

इसी प्रकार असद्भूत नय के विषयों को भी समझना। जिनका आत्मा के साथ, मात्र संयोग सम्बन्ध होते हुए भी एक क्षेत्रावगाह रूप निकटवर्ती संश्लेष सम्बन्ध हो ऐसे शरीर एवं द्रव्य कर्मआदि वाला आत्मा को कहना वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है। तथा जिनका आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध भी नहीं है और जिनका संयोग भी जीवन काल में ही समाप्त होता हुआ देखा जाता है ऐसी स्त्री पुत्र आदि सचेतन एवं धन मकान आदि अचेतन ऐसे सभी परिकर आत्मा से दूरवर्ती होने से उनको आत्मा के कहना यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

व्यवहारनय के उक्त सभी प्रकार के भेदों को, अभेद में भेद करने के कारण कुछ तो भेद रूप व्यवहार हैं, जिनको सद्भूत व्यवहार कहा है। तथा जिनका मात्र संयोग सम्बन्ध है, वे सब संयोग रूप व्यवहार हैं, उनको असद्भूत कहा है। **ये सभी अभेद आत्मा को भेद रूप एवं असंयोगी आत्मा को संयोगी बताते हैं और उनके आश्रय से विकल्प होते है अर्थात् रागादि उत्पन्न हो जाते हैं; इसलिये वे सभी व्यवहार कहे जाते हैं।**

उक्त समस्त कथन का तात्पर्य इतना ही है कि दृष्टि का

विषय जो अभेद-अखण्ड-एक सिद्धसदृश्य त्रिकाली ज्ञायक है, वह तो उक्त चारों प्रकार के व्यवहारनय के भेदों एवं निश्चयनय के अशुद्ध निश्चय एवं शुद्धनिश्चयनय के भेदों में से एकदेशशुद्ध एवं शुद्धनय, इस प्रकार के सभी भेदों से परे अर्थात् दूर, मात्र परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है; जो कि परमभावग्राहीशृद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय भी है, वहीं एकमात्र अपनत्व करने योग्य है अर्थात् अपनतव का विषय वह ही एक है और वही परम उपादेय है।

व्यवहार की उपयोगिता

प्रश्न – व्यवहारनय को कथंचित् उपादेय भी कहा गया है, वह किस प्रकार ?

उत्तर – नय तो ज्ञान की पर्याय है, वह न तो हेय होती है और न उपादेय। वरन् उसके विषयों में अपनत्व होना वह हेय है, हेय कहने से तात्पर्य है कि अपनत्व करना; इसका उपचार करके नय को भी हेय कह दिया जाता है, वहाँ नय रूपी ज्ञानपर्याय को हेय बताने का अभिप्राय नहीं होता।

व्यवहारनय की उपयोगिता 2 प्रकार से है। **उपयोगी, नयरूपी ज्ञानपर्याय की उपयोगिता को समझना, उसके विषय को नही।** प्रथम तो, अभेद और अनुपचरित वस्तु, अनुभव का विषय होने से एवं अज्ञानी को अपरिचित होने के कारण, वह ज्ञान में नहीं आ सकती; इसलिये ऐसी वस्तु को भेद करके एवं उपचार करके समझाने का कार्य तो व्यवहारनय के द्वारा ही होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये अपरिचित का परिचय कराने का उपकार तो व्यवहारनय का है। दूसरा, पर्याय की शुद्धिरूपी कार्य के लिये

भी व्यवहारनय का ज्ञान उपयोगी है; क्योंकि अशुद्धि, पर्याय में अर्थात् परिणमन में होती है और उसका अभाव होकर शुद्धि भी परिणमन में होती है। और पर्याय व्यवहारनय का विषय है; इसलिये अशुद्धि के सद्भाव-अभाव का एवं शुद्धि के उत्पादन एवं वृद्धि का ज्ञान भी व्यवहारनय के द्वारा, भेद करके समझने से ही होता है। अत: इसके ज्ञान के बिना पर्यायशुद्धि का कार्य भी नहीं हो सकता। इसलिये भी व्यवहारनय का ज्ञान उपयोगी है। इस प्रकार उपर्युक्त कार्य सम्पन्न कराने का उपकार, व्यवहारनय का है। **इन कार्यों के लिये व्यवहारनय का ज्ञान उपयोगी होता है। लेकिन उसके विषयों को भी उपादेय मान लेने से तो वह मान्यता, मोक्षमार्ग की घातक हो जावेगी।** इस प्रकार उक्त स्वरूप समझकर प्रयोजन सिद्ध करने के लिये तो व्यवहार को उपयोगी जानकर, यथा स्थान यथायोग्य उसका उपयोग आवश्यक मानना चाहिये।

आगम-अध्यात्म द्वारा प्रयोजन की सिद्धि

उक्त दोनों पद्धतियों के नयों को, ज्ञान में जाग्रत रखकर जिनवाणी का अध्ययन अथवा श्रवण करने से यथार्थ मार्ग प्राप्त करना सरल हो जाता है, अत: आत्मार्थी को उक्त पद्धतियाँ अत्यन्त प्रयोजनभूत होने से, इनको अपनाकर यथार्थ निर्णय कर लेना चाहिये।

परिणति में मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिये छह द्रव्यों का स्वरूप समझकर, उनमें मुख्यता से जीव द्रव्य के स्वरूप को समझना चाहिये। तत्पश्चात् अन्य सबके स्वतंत्र अस्तित्व एवं परिणमन को समझते हुए उनके परिणमन में पाँच समवाय युक्त सहज बनने वाले निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को समझना चाहिये। और आत्मा के स्व-पर-

प्रकाशक ज्ञान स्वभाव को एवं जानने की प्रक्रिया को समझ कर उसके साथ सहज बनने वाले ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की वास्तविकता को समझना चाहिये। इस प्रकार समझकर ज्ञायक में अपनत्व कर, ज्ञेय मात्र में परत्वबुद्धि उत्पन्न करना चाहिये।

उक्त समस्त प्रक्रिया के समझ लेने मात्र से ज्ञायक में अपनत्व नहीं हो जावेगा; अपनत्व के लिये तो सिद्ध का स्वरूप समझकर, उनके समान अपने आत्मा का स्वरूप मानकर, स्वयं सिद्ध बनने की उग्र रुचि का पृष्ठबल रहना, वह मुख्य है। रुचि के पृष्टबलपूर्वक अपनाई गई उक्त प्रक्रिया से अपनी परिणति में अन्तर्मुखी पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है, और उससे सहज रूप से अपने शरीर और शरीर से संबन्धित स्त्री-पुत्रादि सचेतन एवं मकान रुपया-पैसा आदि अचेतन परिकरों के प्रति अपनेपन की प्रगाढ़ता पूर्वक पकड़ बुद्धि ढ़ीली होती जाती है, **यही सम्यक्त्व सन्मुखता है एवं धर्म प्रगट करने की प्राथमिक योग्यता भी यही है।**

उक्त दशा प्राप्त आत्मार्थी विचारता है कि जिस शरीर को मैंने मेरा मान रखा है वह तो मृत्यु काल में ही मेरा साथ छोड़ देता है और उन सबको जानने वाले आत्मा, का नाश नहीं होता। और शरीर को जीवित रखने वाली जानन क्रिया का स्वामी ऐसा ज्ञायकआत्मा, वह जानन क्रिया के साथ अन्यत्र उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जानने की क्रिया जिसमें हो रही है ऐसी शक्ति का धारक जो आत्मा है वही ज्ञायक है और वही 'मैं' हूँ, यह शरीर 'मैं' नहीं हूँ। रुचि के पृष्टबल पूर्वक होने वाले ऐसे विचारों द्वारा जो निर्णय होता है; उसके पृष्ठबल से अन्तर्परिणति, अपना अस्तित्व ज्ञायकस्वभावी मानने की ओर आकृष्ट होकर, उस ओर झुकना प्रारम्भ कर देती है। ऐसी अन्तर्दशा के साथ होने वाला पुरुषार्थ ही आत्मोपलब्धि का प्रारम्भिक पुरुषार्थ है।

सविकल्पात्मक एवं निर्विकल्पात्मक भेदज्ञान में अन्तर

विकल्पात्मक भेदज्ञान का उद्देश्य तो होता है, समग्र आत्मवस्तु में से अपनत्व करने योग्य विषय का निर्णयकर, उसमें अपनापन करना अर्थात् उस रूप अपना अस्तित्व मानना और निर्विकल्प भेदज्ञान का उद्देश्य होता है, माने हुए विषयरूप परिणमित हो जाना। **इस प्रकरण में आत्मशुद्धि से अभिप्राय चारित्र सम्बन्धी शुद्धि से नहीं है। वरन् उपर्युक्त पद्धति द्वारा अपनत्व करने योग्य निर्णीत विषय में, अपनत्व हो जाना है।** अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान द्वारा निर्णीत विषय में, अपनत्व की श्रद्धा होकर, निर्विकल्प आत्मानुभूति द्वारा सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाना है। और यही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है। सविकल्प भेदज्ञान में भी रुचि का पृष्टबल मुख्य रहते हुए, ज्ञान के समक्ष विषय अनेक होते हैं; उनमें से भी अपनत्व करने योग्य विषय को छाँटकर निर्णय करना होता है। और निर्विकल्पक भेदज्ञान में अपनत्व योग्य विषय तो वह ही रहता है, बाकी विषय सहजरूप से गौण रह जाते हैं; फलतः ज्ञान निर्विकल्पक होकर भेदज्ञान का फल आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है। **सविकल्प भेदज्ञान में रुचि के पृष्टबल के साथ ज्ञान का कार्य मुख्य रहता है और निर्विकल्पता में रुचि के पृष्टबलपूर्वक निर्णीत विषय में अपनत्व की श्रद्धा का कार्य मुख्य रहता है। इस दृष्टिकोण को सदैव जाग्रत रखना चाहिये।**

तात्पर्य यह हैं कि भेदज्ञान प्रक्रिया में सामान्य, अभेद, नित्य एवं एक ऐसा त्रिकाली ज्ञायक है वही समयसार गाथा 14 में बताये पाँच भावों से एवं गाथा 49 में बताये सात बोलो से रहित तथा गाथा

50 से 55 तक के 29 भावों से भी रहित एवं ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद से भी रहित शुद्ध द्रव्यार्थिनय का का विषय है और वही अपना स्वरूप निर्णीत होकर अहम् करने योग्य अर्थात् अपनत्व की श्रद्धा करने योग्य रह जाता है। और निर्विकल्पता के समय, परिणति भी उसी में एकाग्र हो जाती है।

शुद्ध प्रमाण का आत्मा

मेरा आत्मद्रव्य, अनन्तगुणों का समुदाय अभेद-अखण्ड पिंड एक है। उसमें अनन्त प्रकार के स्वभावों के धारक अनन्तगुण अनन्त भेदवाले, अभेद रहते हुए बसे हुए हैं; उन सबका अभेद अखण्ड पिंड एक के रूप में मेरा आत्मद्रव्य है। वह समग्र आत्मद्रव्य, ध्रुव रहते हुवे प्रतिसमय परिणमन भी करता है। इसप्रकार उसका परिणमन (पर्याय) भी अभेद एक ही होता है। अखण्ड आत्मद्रव्य में अनन्तगुण रहने से, प्रत्येक गुण के स्वभाव में अन्य गुणों के स्वभावों का 'रूप' व्याप्त होने से प्रत्येक का 'रूप' अन्य गुणों में रहता है। इस प्रकार प्रत्येक समय के परिणमन में सब गुणों का कार्य मिश्र होकर व्यक्त होता है। इसलिए प्रत्येक समय का परिणमन, अनन्तगुणों के अभेद मिश्र स्वाद वाला होकर प्रगट होता है और वह ही अनुभव में आता है। आत्मद्रव्य के निरपेक्ष परिणमन की यह स्वाभाविक स्थिति है। वर्तमान के प्रकरण में आत्मा के सापेक्ष अर्थात् विकृत परिणमन को दृष्टि में नहीं रखना – उसकी चर्चा आगे करेंगे। **इस प्रकार शुद्ध आत्मद्रव्य की त्रिकाल वर्तने वाली स्वाभाविक स्थिति अर्थात् स्वभाव को, ज्ञान-श्रद्धान में जाग्रत रखकर, ध्रुव स्वभाव एवं पर्याय स्वभाव को समझेंगे तो शुद्धप्रमाणरूप आत्मा की वास्तविक स्थिति स्पष्ट समझ में आ जावेगी।**

केवली भगवान का ज्ञान प्रमाण ज्ञान है, उनके ज्ञान में उनका अभेद अमूर्तिक-अखण्ड आत्म द्रव्य का ध्रुवस्वभाव एवं पर्यायस्वभाव एक साथ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। इसलिये जो स्वरूप उनके ज्ञान में ज्ञात हुआ, वही आत्मा का सम्यक् स्वरूप है और वही शुद्ध प्रमाण का विषयभूत आत्मा है।

प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ऐसे अपने चतुष्टय में मर्यादित रहती हैं। कोई द्रव्य अपने चतुष्टय को छोड़ता नहीं तथा अन्य के चतुष्टय में जाता नहीं, ऐसी वस्तु की मर्यादा है। आत्म वस्तु का द्रव्य वह उसका द्रव्य है, अमूर्तिक आत्मा के असंख्य प्रदेश वह उसका स्वक्षेत्र है, उसकी अनित्य स्वभावी पर्याय वह स्वकाल है, (इसमें काल का अभिप्राय परकाल नहीं समझना) और उसके अनन्तगुण-शक्ति-सामर्थ्य वे उसके स्वभाव हैं। स्वचतुष्टय में द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ उसके अमूर्तिक आकार को सिद्ध करने वाले प्रदेशों को भी शामिल कर लेने से चारों की मिलाकर चतुष्टय चार हो जाते हैं। यह आत्मवस्तु के अस्तित्व की मर्यादा है।

ऐसी स्वचतुष्टय में मर्यादित वस्तु का अनादि अनन्त दो पक्ष में अस्तित्व रहता है; एक तो अपरिवर्तित रहने वाला ध्रुव पक्ष और दूसरा प्रति समय परिवर्तन करता हुआ परिणमन पक्ष। तदनुसार आत्मवस्तु के भी दो पक्ष रहते हैं। इस प्रकार स्वचतुष्टय युक्त अखण्ड आत्म वस्तु, अभेद अखण्ड रहती हुई अनादि अनन्त उक्त दो पक्षों में वर्तती रहती हैं। **स्वचतुष्टय युक्त अभेद आत्म वस्तु का अपरिवर्तित एकरूप रहने वाला पक्ष तो ध्रुव है और प्रतिसमय परिवर्तन करता हुआ अनेक रूप वर्तनेवाला अनित्य स्वभावी पक्ष वह पर्याय है, जिनवाणी में भेद को भी पर्याय कहा है; इसलिये अभेद में भेद करना भी पर्याय है।**

इस चर्चा में भेद को भी पर्यायार्थिक नय का विषय कहने का विशेष हेतु है; आत्मवस्तु तो अखण्ड और अभेद रहती हुई एक है; उसमें किसी भी अपेक्षा से कोई प्रकार भेद करने से अर्थात् भेदकरके जानने से रागी छद्मस्थ को विकार (राग) उत्पन्न हो जाता है, इस कारण भेद को भी पर्यायार्थिकनय का विषय कहा है।

इसप्रकार उसमें प्रदेश भेद-गुणभेद-पर्यायभेद आदि सभी प्रकार के भेद पर्यायार्थिकनय के विषय होने से, सबको पर्याय कहा है, मात्र उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय को नहीं। क्योंकि वह पर्याय तो स्वयं अनित्यस्वभावी होने से काल नाम के चतुष्टय द्वारा, भेदपक्ष में आ ही जाती है। इस प्रकार समग्र आत्मवस्तु निम्न प्रकार से दो भागों में विभाजित रहती हुई प्रतिसमय वर्तती है –

1. **द्रव्य चतुष्टय** – विशेषों से निरपेक्ष **सामान्य स्वभाव वह ध्रुव पक्ष** है और उसके **विशेष वे पर्याय पक्ष** हैं।
2. **क्षेत्र चतुष्टय** – असंख्य प्रदेशों का अभेद **एक के रूप में ज्ञात होने वाला स्वरूप वह ध्रुव पक्ष है, जिसका अभेद के नाम से ज्ञान कराया जाता है।** और उसी के प्रदेशों को **भेदरूप से ज्ञान कराने वाला पक्ष वह पर्यायपक्ष है,** उसका भेद के नाम से ज्ञान कराया जाता है।
3. **काल चतुष्टय** – परिणमन वह काल है, अतः पर्याय के परिणमन का अनादि अनन्त प्रवाह जो परस्पर अनुस्मृति से रचित है जिसको त्रिकाली भी कहा जाता है, ऐसा **प्रवाह नित्य स्वभावी होने से वह तो ध्रुव है और उसी का प्रति समय पलटने वाला अनित्य पक्ष वह पर्याय है।** इसप्रकार

नित्यपक्ष का द्रव्य के नाम से एवं अनित्यपक्ष का पर्याय के नाम से ज्ञान कराया जाता है।

4. **भाव चतुष्टय** – आत्मा में अनन्तगुण हैं। उन गुणों की अनन्तता को दृष्टि में न लेते हुए, **मात्र अभेद-अखण्ड एकाकार ऐसे एक को ज्ञान में लिया जावे तो वह ध्रुवपक्ष है, जिसका एक कहकर ज्ञान कराया जाता है।** और उसके अनन्तगुणों की **अनन्तता को ज्ञान में लेने पर वह पर्यायपक्ष** है, जिसका अनेकता कहकर ज्ञान कराया जाता है।

इस प्रकार आत्म वस्तु का 'सामान्य स्वभाव', 'अभेद स्वभाव', 'नित्य स्वभाव' एवं 'एक स्वभाव' इन चारों स्वभावों का एक रूप जो भी है वही आत्मवस्तु का ध्रुव पक्ष है ध्रुव स्वभाव है। इसी को द्रव्य के नाम से भी कहा जाता है। यही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय एवं शुद्धनय अथवा परम शुद्ध निश्चयनय का विषय है। आत्मार्थी को दृष्टि का विषय एवं अपनत्व करने योग्य विषय भी यही है तथा श्रद्धा का श्रद्धेय, ज्ञान का स्वज्ञेय तथा ध्यान का ध्येय भी यही है।

इससे विपरीत पर्यायपक्ष, जिसमें सब प्रकार की अनेकताएँ विद्यमान हैं और उनमें से किसी को भी लक्ष्य में लेने से राग एवं अपनत्व करने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। द्रव्य सामान्य होने पर भी उसमें विशेषताओं के भेद करना, अभेद होने पर भी प्रदेशों के भेद करना, पर्याय का परिणमन प्रवाहरूप नित्य होने पर भी, उनके समय-समय के परिणमन की अनित्यता लक्ष्य में लेना, इसी प्रकार अनन्तगुणों का अखण्ड एक के रूप में अस्तित्व

होते हुए भी गुणों को भेद करके ज्ञान में लेना आदि; **इसके अतिरिक्त जिसका भी ध्रुव में सद्भाव नहीं हो ऐसे किसी भी विषय रूप आत्मवस्तु को जाननां वह सब व्यवहार है अभूतार्थ है एवं पर्यायार्थिक नय का विषय है और आत्मा के प्रयोजन से विपरीत होने से संसार मार्ग है। इसलिये उनमें से किसी में भी अपनत्व करने योग्य नहीं है।**

ऐसी ध्रुव अर्थात् द्रव्य पक्ष एवं अध्रुव अर्थात् पर्याय पक्ष दोनों सहित विकार से निरपेक्ष उक्त आठ भेदों से युक्त आत्मवस्तु का ज्ञान कराने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं एवं उसकी विषयभूतवस्तु को प्रमाण ज्ञान का विषय कहते हैं।

प्रमाण वस्तु अनेकान्त स्वभावी

उक्त स्वरूप, आत्मा का वास्तविक स्वरूप है और यही अनेकान्त स्वभावी आत्मवस्तु है। अनेकान्त तो वस्तु मात्र का स्वभाव है; प्रत्येक वस्तु में एक साथ परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव रहते हैं, जैसे ध्रुव स्वभाव एवं परिणमन स्वभाव और इसी प्रकार आत्मा स्वद्रव्यपने है और परद्रव्यपने नहीं है। समयसार परिशिष्ट में अनेकान्त का स्वरूप बताया है कि "**जो (वस्तु) तत् है वही अतत् है, जो वस्तु एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असंत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।**" उक्त सिद्धान्त के अनुसार प्रमाणरूप आत्मवस्तु में ध्रुवपक्ष के चारों स्वभाव एवं पर्याय पक्ष के चारों स्वभाव परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक साथ प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार यह अनेकान्त के 'भी' पक्ष को सिद्ध करता है। इसी अपेक्षा को समर्थन करने वाला 47 शक्ति

का प्रकरण है; जिसके द्वारा आत्मा में रहने वाले अनन्तगुणों का अस्तित्व 'भी' के द्वारा सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आत्मा में रहने वाले तत्-अतत् आदि अनन्त धर्म समूह, जिनकी पर्याय नहीं होती लेकिन आत्मा में रहने वाले और परस्पर विरुद्ध दिखने वाले स्वभावों को सिद्ध करते हैं और वे स्वभाव, ज्ञान के द्वारा व्यक्त भी होते हैं, **ऐसे स्वभावों को समयसार परिशिष्ट में तत्-अतत् आदि 14 बोलों के द्वारा बताया है। इन बोलों के द्वारा, अनेकान्त का 'ही' पक्ष सिद्ध होता है।**

जैसे आत्मा का, स्वद्रव्य रूप से तो अस्तित्व 'ही' रहता है और परद्रव्य रूप से नास्तित्व 'ही- रहता है, ऐसा आत्मा में धर्म अर्थात् स्वभाव है, जो आत्मा में त्रिकाल रहता है। इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव सभी प्रकार से आत्मा का स्वचतुष्ट्य में अस्तित्व 'ही' के द्वारा सिद्ध होकर, परचतुष्टय में नास्तित्व भी 'ही' के द्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मा का अन्यद्रव्यों से 'ही' के द्वारा नास्तित्व सिद्ध होकर अपने अनन्तगुणों के साथ 'भी' के द्वारा अभिन्नत्व सिद्ध होने से आत्मवस्तु की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार विश्व के प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता अनेकान्त स्वभाव से सिद्ध है।

इस प्रकार 'ही' अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर, दृढ़ता प्रदान करती है और 'भी' अन्य स्वभावों के बारे में मौन रहकर भी उनकी सम्भावना मात्र ही नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है। प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् (कथंचित्) पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य में तो स्यात् पद के साथ-साथ 'ही' का प्रयोग भी आवश्यक है। **'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की सूचक है।**

बहुत से अज्ञानी जन, गृहीत मिथ्यात्व की पोषक अनेक मान्यताओं का समन्वय करने का उपाय अनेकान्त सिद्धान्त को बताकर, यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि जैनधर्म के अनेकान्त वाद अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्त में मात्र 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। उन्हें 'भी' में समन्वय की सुगन्ध आती है और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध आती है, लेकिन यह उनकी समन्वय की मिथ्या मान्यता को सिद्ध करने का दुराग्रह मात्र है। अनेकान्त तो वस्तु मात्र का स्वभाव है, अपने द्रव्य का अन्य द्रव्य में नास्तित्व सिद्ध करने वाला 'ही' स्वभाव एवं अनन्तगुणों का अभेद अस्तित्व करने वाला 'भी' स्वभाव प्रत्येक वस्तु मात्र में त्रिकाल रहता है। इसलिये ऐसे अनेकान्त सिद्धान्त का प्रयोग, एक ही वस्तु की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करने के लिये ही होता है, दो वस्तुओं के समन्वय करने के लिये नहीं। ऐसी स्थिति में दो मिथ्या मान्यताओं के समन्वय करने के लिये अनेकांत का प्रयोग तो जैन सिद्धान्त के साथ अन्याय है, गृहीत मिथ्यात्व का पोषक है।

इस प्रकार समयसार के परिशिष्ट द्वारा प्रमाण रूप आत्मवस्तु का सांगोपांग विवेचन कर आचार्य श्री ने परम उपकार किया है। ऐसी प्रमाण रूप वस्तु का स्वभाव, आत्मा में ध्रुव रूप से त्रिकाल रहते हुए भी, विकारी परिणमन भी संसारी जीव को वर्त रहा है, ऐसी विसंगति के अभाव करने का उपाय ही ग्रन्थाधिराज समयसार है। **तात्पर्य यह है कि प्रमाण रूप वस्तु के ध्रुवपक्ष में अहंपना स्थापन कर, अपनत्व की श्रद्धा के बल से, पर्यायार्थिकनय के समस्त प्रकार के विषयों में परत्वबुद्धि-हितबुद्धि का अभाव होकर, पर्याय की शुद्धि के द्वारा, ध्रुव के समान परिणमन होने का उपाय बताने वाला एकमात्र समयसार ही है।** इस प्रकार दोनों नयों के स्वरूप को यथार्थ प्रकार से समझकर, यथायोग्य अपनाकर, आत्मशुद्धि कर लेना ही एकमात्र कर्तव्य है।

उक्त प्रकार के शुद्धिकरण के लिये उपयोगी, एक स्थूल लौकिक दृष्टान्त है। दृष्टान्त सर्वांगीण घटित नहीं होता। जीवित मनुष्य के शरीर की चिकित्सा के माध्यम से उक्त विषय को समझेंगे। जैसे एक जीवित शरीर है, वह अनगिनत अंग-प्रत्यंग, आकार-प्रकार, हाड़-मांस-मज्जा-रक्तवाहिनी कोशिकाओं आदि अनेक प्रकार के कार्य करने वाले अंगों का समुदाय होते हुए भी एक है। उसमें जब तक जीव रहता है तब तक वह जीवित कहा जाता है। उन अंगों में हृदय जिसको हार्ट कहते हैं, वह ऐसा अवयव है कि जिसके कार्यशील रहने पर, शरीर का प्रत्येक अंश जीवित रहता है। जबकि हृदय भी अन्य अंगों के समान ही एक अंग है; लेकिन वह सबमें प्रधान माना जाता है। इसी प्रकार आत्मा के अनन्तगुणों में चेतना भी एक गुण है, **लेकिन चेतना आत्मा का ऐसा गुण अर्थात् स्वभाव है, जो आत्मा की समस्त शक्तियों के साथ विश्व को भी प्रकाशित करता है; इसलिये यह उक्त हृदय के समान आत्मा का मूल स्वभाव है।**

जिस प्रकार उक्त शरीर को स्वस्थ करने के लिये, शरीर के चिकित्सक को सर्वप्रथम स्वस्थ शरीर का ज्ञान कराया जाता है। तज्जनित ज्ञान में निष्णात होने पर, अस्वस्थ अर्थात् रोगी दशा का ज्ञान कराया जाता है। तत्पश्चात् ही उसे निष्णात चिकित्सक का प्रमाण-पत्र दिया जाता है। इसी प्रकार मोक्षार्थी को भी सर्वप्रथम, स्वस्थ शरीर के समान आत्म वस्तु के वास्तविक स्वरूप अर्थात् शुद्धप्रमाण रूप आत्मवस्तु का ज्ञान कराया जाता है, उसके द्वारा प्रत्येक अवयव के समान अनन्तगुणों का स्वरूप समझाया जाता है; तत्पश्चात् आत्मा के किस गुण के परिणमन अर्थात् पर्याय में किस प्रकार की विकृति होती है और उसका क्या उपचार करने से आत्मा

को स्वस्थता प्राप्त हो जावेगी, उसका ज्ञान कराया जाता है। उक्त ज्ञान के द्वारा तद्रूप परिणमन करने की रुचि जाग्रत होने के पश्चात् ही वह वास्तविक चिकित्सक अर्थात् सम्यक्त सन्मुखता का पुरुषार्थ करने वाला आत्मार्थी कहा जा सकता है। इसमें मुख्य तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार चिकित्सक को स्वस्थ शरीर के अवयवों का ज्ञान, निरन्तर वर्तता रहता है, उसके आश्रय से ही उसकी चिकित्सा सफल होती है, **उसी प्रकार जिस आत्मार्थी को आत्मवस्तु का त्रिकाल रहने वाला ध्रुव स्वरूप, श्रद्धा ज्ञान में निरन्तर वर्तता रहेगा; वह ही परिणमन में होनेवाली विकृतियों का अभाव कर सकेगा अर्थात् पर्यायार्थिक नय के विषयों से अपनत्व तोड़ सकेगा। और वह ही दोनों नयों का स्वरूप समझकर उनका यथायोग्य प्रयोग भी कर सकेगा।**

प्रमाण रूप आत्मा का मूल स्वभाव

उक्त आठ भेदों सहित प्रमाण की विषयभूत समग्र आत्मवस्तु, त्रिकाल ध्रुव रहते हुए अखण्ड रहकर प्रतिसमय पलटती भी रहती है। ऐसी वस्तु के दोनों पक्षों को यथार्थ प्रकार से समझने पर ही, सिद्धदशा प्रगट करने की एवं ध्रुव पक्ष में अपनत्व करने की रुचि जाग्रत हो सकती है; इसीलिये प्रमाणरूप वस्तु का मूल स्वभाव समझना अतिआवश्यक है।

उक्त अभेद अखण्ड परिणमन में, अनन्तगुणों का प्रकाशन भी अभेद एक कार्य के रूप में प्रगट होना चाहिये। ऐसा कार्य आत्मा की जानन क्रिया द्वारा आत्मा के अनन्तगुणों का अभेद प्रगट होता है। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, इसलिये उक्त कार्य का प्रकाशन ज्ञान द्वारा होता है। समयसार के परिशिष्ट में भी

कहा है कि आत्मा की अनन्त शक्तियाँ ज्ञान में उछलती है। इस प्रकार आत्मा का जानन स्वभाव मूल स्वभाव है; मात्र ज्ञान गुण के कारण जानना स्वभाव नहीं है। इस ही जानन स्वभाव से आत्मा का अस्तित्व भी पहिचाना जाता है। इन सब कारणों से सिद्ध होता है कि आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञान है।

उक्त वस्तु का स्वरूप संक्षेप से समझाने वाली समयसार की गाथा-2 की टीका है, उसमें सर्वप्रथम उसका मूल स्वरूप बताया है वह मूलतः इस प्रकार है –

''समय' शब्द का अर्थ इस प्रकार है – 'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एकपना' है, और 'अयगतो' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिये एक साथ ही (युगपत्) जानना और परिणमन करना – यह दोनों कियाएँ एकत्व पूर्वक करे वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एकत्व पूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। इसलिये वह समय है।'' उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समग्र आत्मवस्तु का अखण्ड एवं अभेद एक ही कार्य देखें तो आत्मा प्रति समय जानने रूप (स्व-पर के भेद बिना का) परिणमन करता हुआ अनुभव में आ रहा है। **यहाँ जानना कहने में आत्मा का 'चित् स्वभाव' समझना, चित् स्वभाव के अवयव दर्शन एवं ज्ञान हैं;** अतः जानने में दर्शन भी अन्तर्गर्भित समझना। दर्शन अभेद जानता है और ज्ञान भेद-प्रभेद पूर्वक जानता है, इसलिये वर्णन, ज्ञान की मुख्यता से होता है, ऐसे वर्णन में ज्ञान के साथ दर्शन का भी समावेश समझ लेना। आत्मा एक वस्तु है, उसकी सत्ता अनादि-अनन्त रहती है; सत्ता अनादि-अनन्त तभी रह सकती है, जबकि सामर्थ्यों सहित परिणमन करते हुए भी, उसका अस्तित्व ध्रुव बना रहे। यथा उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। **तात्पर्य यह है कि आत्मा का जानना-जानना-जानना ध्रुव बना रहकर भी वह जानना प्रतिसमय परिणमता भी रहता है। इस प्रकार जानना आत्मा का अभेद ध्रुव रहने वाला स्वभाव है,** इसीलिये ज्ञान को आत्मा का लक्षण भी कहा है। आत्मवस्तु अनन्तागुणों-सामथ्यों का एक अखण्ड पिण्ड है, उसमें बहुत से गुण तो परिणमन स्वभाव को बलाधान करने वाले हैं और बहुत से गुण जानने रूप स्वभाव को अभिनंदन करने वाले अर्थात् सामर्थ्य बताने वाले हैं। **तात्पर्य यह है कि गुण भेदों को गौण करके आत्मा के अभेद स्वरूप को देखा जावे तो, ज्ञायक स्वभावी एक पिण्ड ही प्रति समय परिणमता हुआ अनुभव में आता है अर्थात् अनन्तगुणों का कार्य एक जानन क्रिया में ही प्रगट होता है।** समयसार परिशिष्ट में 47 शक्तियों के विवेचन के पूर्व, आचार्य श्री ने कहा भी है कि आत्मा की एक ज्ञप्ति क्रिया में ही अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। मूल कथन इस प्रकार है –

''परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्रभाव रूप से स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणमित जो एक जानन क्रिया है उस जानन क्रिया मात्र भाव रूप से स्वयं ही है इसलिये) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञानमात्र एक भाव की अन्तःपातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जाने वाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती है।''

उक्त कथन तो आत्मा के अपने गुण-पर्यायों को जानने वाले ज्ञान के विषय में है। **परन्तु परलक्ष्यी ज्ञान के विषयों का ज्ञान भी, आत्मा की ही ज्ञान पर्याय है। अतः उस ज्ञान के विषय भी आत्मा की जानन क्रिया-ज्ञप्ति क्रिया में ही उछलते हैं अर्थात्**

रहते है। तात्पर्य यह है कि अरहंत भगवान् की जानन क्रिया में स्व-पर के ज्ञेयाकार जिस प्रकार रहते हैं अर्थात् उछलते हैं, उसी प्रकार मेरे प्रमाणरूपआत्मद्रव्य की जानन क्रिया में भी स्व-पर के ज्ञेयाकार उछलते हैं। क्योंकि स्वभाव तो ज्ञान का समान है। लेकिन ज्ञायक के अनुभव के अभाव में, अज्ञानी का पर में अपनापन होने से, मात्र पर-सम्बन्धी ज्ञेयाकार ही उछलते हैं। इसप्रकार प्रमाण रूप समग्र वस्तु का अभेद कार्य, ज्ञप्ति के रूप में व्यक्त होता है और यही उसका स्वभाव है। "ऐसे स्वभाव वाला मैं आत्मा, त्रिकाल स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभावी हूँ।" – ऐसी श्रद्धा जाग्रत होती है।

प्रश्न – उक्त आत्म पदार्थ को, गुणों-स्वभावों आदि को भेद-प्रभेद करके समझे बिना, अहम्पने की रुचि उत्पन्न नहीं होती; अतः उनको भी संक्षेप से समझाइये ?

उत्तर – समयसार गाथा-2 की टीका में ऐसे स्वभावों का सात बोलों में अत्यन्त संक्षेपीकरण करके वर्णन किया है, उनमें से चार बोल तो जानन स्वभाव से संबंधित हैं और तीन बोल वस्तु की सत्ता से संबंधित हैं। इनका विस्तार समयसार परिशिष्ट में 47 शक्तियाँ के रूप में आचार्य श्री ने किया है जो मूलतः अध्ययन करने योग्य है, विशेष विस्तार के लिये इन पर पू. श्री कानजीस्वामी के प्रवचन एवं समयसार अनुशीलन का अध्ययन करें। उक्त सात बोलों का आशय निम्न प्रकार है –

1. **"यह जीव पदार्थ सदा ही परिणमन स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति लक्षण युक्त सत्ता सहित है।"** इससे आत्मवस्तु की सत्ता सिद्ध होने के साथ, आत्मवस्तु का ध्रुव रहने वाला

ध्रुव स्वभाव और उत्पाद-व्यय अर्थात् परिणमन करने वाला पर्याय स्वभाव भी सिद्ध होता है; अर्थात् प्रमाण रूप द्रव्य का अस्तित्व, ध्रुव एवं पर्याय रूप में अनादि-अनन्त रहता है, यह सिद्ध होता है। छद्मस्थ को दोनों स्वभावों का ज्ञान क्रमशः हो पाता है; इसलिये ऐसे जानने वाले ज्ञान का परिचय द्रव्यार्थिक नय एवं पर्यायार्थिक नय के नाम से कराया गया है। इसी को प्रमाण के ज्ञान पूर्वक नयज्ञान का होना कहा जाता है।

2. **"जीव चैतन्य स्वरूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शन ज्ञान ज्योति स्वरूप है।" यह बोल जानन स्वभाव को सिद्ध करता है।** समस्त पदार्थ सामान्य, अभेद और एक ऐसे सामान्य स्वभाव एवं विशेष भेद और अनेक ऐसे विशेष स्वभाव वाले हैं। इसलिये सामान्य स्वभाव को जानने वाला दर्शन एवं विशेष स्वभाव को जानने वाला ज्ञान **इस प्रकार जाननक्रिया, दर्शन ज्ञान ज्योति स्वरूप होकर भी अभेद एक चैतन्य स्वरूपता से नित्य प्रकाशित रहती है।** इस प्रकार आत्मद्रव्य सामान्य विशेष स्वरूप समस्त पदार्थों को एक ही समय जान लेने के स्वभाव वाला है। ऐसा स्वभाव आत्मा का त्रिकाली है अतः आत्मा त्रिकालसर्वज्ञस्वभावी है, ऐसी श्रद्धा जाग्रत होती है।

3. **"वह जीव, अनंन्त धर्मों में रहने वाला जो एकधर्मीपना है उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है, ऐसा है। (अनन्त गुणों की एकता वह द्रव्यत्व है)।"** यह आत्मा की गुण भेदों की अनन्तता एवं प्रदेश भेदों की अनेकता का निरसन करके, उसमें उक्त भेद रहते हुए भी वस्तु अखण्ड-अभेद एक

रहती है। **ऐसा बताकर समस्त प्रकार के भेद-व्यवहार का निषेध किया।**

4. **''वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण पर्यायों को अंगीकार किया है, ऐसा है।''** यह 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' सूत्र का स्पष्टीकरण है। गुण अनन्त एक साथ आत्मा में रहते हुए प्रति समय परिणमते भी रहते है। तात्पर्य यह है कि आत्मा तो वह का वही अभेद-अखण्ड रहते हुए परिणमता भी रहता है। इसप्रकार गुण-पर्यायों का समूह द्रव्य है। ऐसी अभेद दृष्टि कराई है।

5. **''वह, अपने और पर द्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने समस्त रूप को प्रकाशने वाली एकरूपता प्राप्त की है – ऐसा है। (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं के आकार प्रतिभासित होते हैं, ऐसे एक ज्ञान के आकार रूप है)।''** इस बोल से आचार्य श्री ने आत्मा के जानन स्वभाव की जानन क्रिया के दो रूप बताये। **एक तो स्व और पर को जानने का स्वभाव** और दूसरा जानने की प्रक्रिया का स्वभाव। इससे सिद्ध होता है कि स्व-पर के आकार परिणत अपनी ज्ञान क्रिया को जानने से, स्व एवं पर अनेक को जानते हुए भी ज्ञान, एकरूप रहता है। अर्थात् स्व एवं परज्ञेय जिनकी संख्या अनन्त है उसको जानते हुए भी एक रूप रहने की सामर्थ्य ज्ञान में है। और वह जानना, आत्मा अपने क्षेत्र (असंख्य प्रदेशों) में वर्तने वाली ज्ञान पर्याय में करता है। अर्थात् समस्त ज्ञेयों के आकार रूप परिणत ज्ञान पर्याय (जो वास्तव में ज्ञान का ही आकार है) को, आत्मा

ज्ञान के सन्मुख रहते हुए जानता हैं, ज्ञेयों के सन्मुख होकर नहीं जानता। इस प्रकार आत्मा, स्व-पर-प्रकाशक स्वभावी ज्ञान पर्याय को, जो अपनी योग्यता से ज्ञेयों से निरपेक्ष रहकर, ज्ञेयों के आकार रूप परिणमती है, ऐसी अपनी ज्ञान पर्याय को जानता है। ऐसी जानने की क्रिया को, उपचार से ज्ञेयों का जानना कहा जाता है, वास्तव में तो वे ज्ञान के ही आकार हैं। (इस स्वभाव के कारण ज्ञान अनेकों को जानने पर भी अनेक रूप नहीं होता, और उसकी एकरूपता खण्डित नहीं होती।) **इस प्रकार इस बोल के द्वारा आत्मा का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव एवं ज्ञेयों को जानने की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है।** और ज्ञेयों का ज्ञान, ज्ञेय के सन्मुख होकर नहीं होता वरन् ज्ञान के सन्मुख होकर होता है, यह भी सिद्ध होता है। इस विषय को विस्तार से समझने के लिये पू. श्री कानजीस्वामी के सन् 78 में समयसार गा. 6 पर हुए प्रवचन एवं परिशिष्ट के 14 बोलों के प्रवचनों का अध्ययन करना चाहिये।

6. **"वह, अन्य द्रव्यों के जो विशिष्ट गुण-अवगाहन-गति-स्थित-वर्तना हेतुत्व और रूपित्व हैं, उनके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्य रूपता स्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल – इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है।"** इस बोल द्वारा आत्मा की छहों द्रव्यों से भिन्नता बताकर, आत्मा की स्वतंत्रता एवं असाधारण स्वभाव चैतन्य रूपता है, ऐसा सिद्ध किया है। इस संबंध में विस्तार से चर्चा पूर्व प्रकरण में हो चुकी है।

7. **"वह अन्य द्रव्यों के साथ अत्यन्त एक क्षेत्रावगाह रूप**

होने पर भी, अपने स्वभाव से न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव रूप है। (इस विशेषण से वस्तु-स्वभाव का नियम बताया)।'' तथा आत्मा का स्वभाव चैतन्य रूपता बताया।

उक्त सात बोलों के अतिरिक्त आत्मद्रव्य में अपार अनन्त शक्तियाँ भरी हैं, उन सबका समुदाय अखण्ड पिण्ड यह आत्मा है। उनमें से कुछ (47) शक्तियों का वर्णन समयसार के परिशिष्ट में है, उनमें से बहुभाग शक्तियाँ, आत्मा के जानन स्वभाव एवं अस्तित्व स्वभाव की विशेषताओं को बताने वाली हैं; ऐसी-ऐसी अपार शक्तियों का भण्डार, मेरा आत्मद्रव्य है। **तात्पर्य यह है कि समयसार गाथा-2 में बताये गये आत्मा के जानन एवं परिणमन दोनों स्वभाव मूलभूत और मुख्य स्वभाव हैं। आत्मार्थी को इनको समझना, अत्यन्त प्रयोजनभूत है। इस प्रकार उपर्युक्त सात बोलों से युक्त मेरी प्रमाण रूप आत्मवस्तु का स्वरूप है।**

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से सिद्ध होता है कि मेरा आत्मा चैतन्य स्वभावी और उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूपी सत्तावाला द्रव्य है। वह अनन्त शक्तियों का अभेद अखण्ड पिण्ड एक है। ऐसे आत्मद्रव्य की चैतन्य रूपता जाननक्रिया के द्वारा प्रकाशमान है अर्थात् जाननक्रिया समग्र प्रमाणभूत आत्मद्रव्य का प्रतिनिधित्व करती है। तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकार का आत्मद्रव्य, अनादि अनन्त ध्रुव रहते हुवे, प्रतिसमय परिणमता है। इस प्रकार उसका जानन स्वभाव, ध्रुव रहते हुए परिणमता भी रहता है। **इस प्रकार जानन स्वभाव आत्मा का ध्रुव स्वभाव है, मात्र पर्याय स्वभाव नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक परिणमन में ज्ञायक स्वभावी आत्मा प्रकाशमान रहता है।** इसी कारण गाथा-2 की टीका में कहा है कि

''एक साथ ही युगपत् जानना और परिणमन करना – यह दोनों क्रियाएँ एकत्वपूर्वक करे वह समय (आत्मा) है। यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। इसलिये वह समय (आत्मा) है।'' इस प्रकार सिद्ध है कि उक्त प्रकार का चैतन्य स्वभावी आत्मा ही ध्रुव रहते हुए जाननक्रिया द्वारा एकत्व पूर्वक प्रतिसमय परिणमता है। और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से, वह प्रतिसमय स्व-पर का ज्ञायक रहते हुए परिणमता है। **इस प्रकार ध्रुव ज्ञायक स्वभावी समग्र आत्मा का परिणमन, एक जाननक्रिया होता है, इसलिये आत्मा प्रतिसमय स्व एवं पर का मात्र ज्ञायक रहता है; कर्ता नहीं, कर्ता का तो अवकाश ही नहीं रहता।**

उक्त टीका के अनुसार, जाननक्रिया, आत्मा के अपने प्रदेशों में होती है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय, द्रव्य के प्रदेश से बाहर परक्षेत्र में जाकर नहीं होती। **इस प्रकार स्व-पर का ज्ञान भी आत्मा की ज्ञान पर्याय है और वह आत्मा के प्रदेशों में ही होती है। वह पर्याय ज्ञेय से निरपेक्ष रहकर, स्वयं ज्ञेय के आकार रूप परिणमती है;** ज्ञेय तो, उसके आकार रूप परिणमन में, ज्ञान से निरपेक्ष रहते हुए, निमित्त होते हैं। प्रत्येक कार्य की संपन्नता पाँच समवाय युक्त होती है, यह वस्तु व्यवस्था का नियम है। **आत्मा को परज्ञेयों का ज्ञान भी स्वमुखापेक्षी ज्ञान द्वारा होता है, ज्ञेयों के सन्मुख होकर नहीं होता। ऐसा ज्ञान का ध्रुव स्वभाव भी है एवं पर्याय स्वभाव भी है।** ज्ञानी-अज्ञानी अथवा सर्वज्ञ भगवान सब के ज्ञान का स्वभाव, इसी प्रकार परिणमने का है। लेकिन **अज्ञानी को पर अर्थात् परज्ञेयों में अपनापन होने से एवं जाननक्रिया की वास्तविकता की श्रद्धा नहीं होने से, उसका ज्ञान तो, ज्ञेयों की ओर झुकता हुआ ही उत्पन्न होता है, यही संसार भ्रमण का कारण है।**

इस प्रकार आत्मा के जानन स्वभाव को मूल स्वभाव मानते हुए एवं जाननक्रिया का यथार्थ स्वरूप समझकर, उसकी श्रद्धापूर्वक ज्ञेयों से निरपेक्ष वृत्ति उत्पन्न करनी चाहिये।

पर्याय में अशुद्धता क्यों होती है?

प्रश्न – अगर आत्मा की शक्तियों की प्रगटता पर्याय द्वारा होती है, तो शक्तियाँ तो त्रिकाल शुद्ध रहती हैं, फिर प्रगटता अशुद्ध क्यों होती है ?

उत्तर – परिणमन (पर्याय) तो अखण्ड द्रव्य का होता है, गुणों का नहीं। गुणों का समूह वह द्रव्य है; इसलिये समस्त गुणों का कार्य मिश्ररूप होकर परिणमन में एक रूप प्रगट होता है। इसलिये किसी एक गुण की विकृति से भी पूरा परिणमन अशुद्ध दिखने लगता हैं। इस कारण अशुद्धि के प्रकारों को भेद करके समझने से, उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकेगा।

अशुद्धि दो प्रकार की होती हैं। एक तो मिथ्यात्व एवं उसके साथ होने वाली अनन्तानुबंधी रागादि भावों की अशुद्धता और दूसरी मिथ्यात्व का अभाव हो जाने पर भी चारित्रमोह के साथ रहने वाली अशुद्धता। पहली अशुद्धता के सद्भाव में तो सम्यग्दर्शन नहीं होता और दूसरी अशुद्धता के सद्भाव में यथाख्यातचरित्र अर्थात् स्वरूप में पूर्णस्थिरता नहीं होती। हमारी चर्चा पहली अशुद्धि का अभाव करने के उपायों तक सीमित है। अतः वर्तमान प्रकरणों में मिथ्यात्व के साथ होने वाली अशुद्धता की उत्पत्ति के कारणों को खोजने पर विचार सीमित रहेगा।

आत्मा के अनन्त गुणों में से, जिन गुणों के परिणमन मुख्यरूप

से विकृत होते हुए अनुभव में आते है, वे गुण श्रद्धा एवं चारित्र हैं। और उनके अशुद्ध अथवा शुद्ध परिणमन को प्रकाशित करने का कार्य ज्ञान द्वारा होता है। जिनवाणी में भी श्रद्धा-ज्ञान चारित्र के सम्यक् परिणमन को ही मोक्षमार्ग कहा है। इसलिये उक्त तीनों गुणों के परिणमनों को मुख्य करके इस विषय पर चर्चा करेंगे।

उक्त गुणों में ज्ञान का तो स्व एवं पर को जानने का स्वभाव है और वह क्षायोपशमिक भाव है, औदयिक नहीं। इसलिये वह स्वयं विकृत नहीं होता और न विकृति का उत्पादन करता है और न विकृति का कारण होता है; वरन् अन्य गुणों की विकृति का, मात्र प्रकाशन करता है। इस कारण उपचार से उसको भी मिथ्याज्ञान कह दिया जाता है। **तात्पर्य यह है कि मिथ्याश्रद्धा रूपी परिणमन तो श्रद्धागुण का है और उसके साथ रहने वाले अनन्तानुबंधी रागादि, वह चारित्र गुण का परिणमन है। सारांश यह है कि अनन्तगुणों में अशुद्धि का मूल कारण तो श्रद्धा गुण का विपरीत परिणमन है, अनन्तानुबंधी रूपी चारित्र की अशुद्धि भी, श्रद्धा की विपरीतता पूर्वक ही होती है। उनकी अशुद्धि से पूरा आत्मा अशुद्ध अनुभव में आने लगता है।** निष्कर्ष यह है कि आत्मा के किसी भी गुण में अशुद्धता तो नहीं होती; लेकिन उनमें श्रद्धा एवं चारित्र गुणों के परिणमन औदयिक भाव हैं, उनमें ऐसी योग्यता है कि वे गुणों के स्वभावों से विपरीत भी परिणम सकते हैं। परिणमन, अखण्ड द्रव्य का अभेद होने के कारण पूरा द्रव्य ही अशुद्ध अनुभव में आने लगता है।

वास्तव में स्थिति तो ऐसी है कि पूरा आत्मा, शुद्ध प्रमाण का विषयभूत द्रव्य, सिद्ध सदृश्य त्रिकालशुद्ध है; वही द्रव्य ध्रुवरूप स्थाई रहते हुए, परिणमन भी करता है। उसके स्थाई भाव को ध्रुव और

परिणमन भाव को पर्याय कहा है किन्तु विकृति परिणमन में होती है। प्रत्येक परिणमन के समय, स्थाई भाव तो जैसे का तैसा ध्रुव रहता है तथा परिणमन में भी बहुभाग गुण शुद्ध रहते हैं। विकृत तो श्रद्धा एवं चारित्रगुण के परिणमन होते हैं; इनकी अशुद्धि के कारण प्रमाण का विषयभूत सम्पूर्ण आत्मा विकृत दिखने लगता है। उससे सम्पूर्ण आत्मा को अशुद्ध मान लेना तो विपरीतता है, इसी का नाम विपरीत मान्यता है। इनमें से अनन्तानुबंधी संबंधी अशुद्धि तो श्रद्धा सम्यक् होते ही नाश हो जाती है। **इसलिये एक श्रद्धा गुण के विपरीत परिणमन के कारणों की खोज कर अनका अभाव करना चाहिये। यही समीचीन उपाय है।**

श्रद्धा का विपरीत परिणमन किस प्रकार ?

ज्ञान की तो असाधारण सामर्थ्य है कि वह स्व एवं पर सबको जानकर तथा समझकर योग्य निर्णय भी कर सकता है। यह सामर्थ्य अन्य किसी गुण में नहीं है। और ज्ञान के जानने का कार्य अनवरत रूप से चलता रहता है कभी रुकता नहीं। **उसी प्रकार श्रद्धा का भी असाधारण स्वभाव ऐसा है कि वह अपनेपने की मान्यता जिसमें करती है उस रूप अपने आपको मान लेती है। और जिसको अपना मान लिया हो, उसमें अपनापन तबतक नहीं छोड़ती जबतक कि वह स्वयं अपनी मान्यता नहीं बदले। चाहे अनेक भव परिवर्तन हो जावें तो भी प्रत्येक भव में आत्मा उसको ही अपना मानती चली जाती है।** ऐसी सामर्थ्य श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में नहीं है। चारित्र तो श्रद्धा के द्वारा स्व माने हुए विषय में, स्थिर लीन होने का प्रयत्न करता है। उपर्युक्त स्वरूप समझ कर, मिथ्या श्रद्धा रूप विकृति के उत्पादन के सम्बन्ध में समझेंगे।

ज्ञान का कार्य तो स्व एवं पर दोनों को जानना है, उसको स्व के जानने में राग भी नहीं है तथा पर को जानने में द्वेष भी नहीं है, वह तो दोनों का तटस्थरूप से मात्र ज्ञाता रहता है; उस समय ही श्रद्धा ने दोनों में से जिसको अपना मान रखा हो अथवा अपनी पूर्व मान्यता बदलकर जिसको अपना मान लिया हो तो, ज्ञान तत्समय उस ओर ही झुक जाता है; फलस्वरूप वही परिणमन ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है ऐसा अनुभव में भी आता है। उस समय दूसरा पक्ष स्वतः ही गौण रह जाता है। इस प्रकार श्रद्धा का परिणमन प्रकाश में आता है। ज्ञान ने तो मात्र प्रकाशन किया है। श्रद्धा की विकृति का दायित्व तो अकेले श्रद्धा का है, ज्ञान तो बिल्कुल निर्दोष रहता है; फिर भी द्रव्य में सबका अस्तित्व एवं परिणमन अभेद होने से, श्रद्धा के कार्य के प्रकाशन करने की मुख्यता के कारण ज्ञान को भी दोषी कह दिया जाता है। इस प्रकार उक्त गुणों के परिणमन का सहज स्वभाविक निमित्त-नैमित्तिक संबंध वर्तता है।

प्रश्न – श्रद्धा की पर को स्व मानने की विपरीत मान्यता प्रारम्भ कब से हुई ?

उत्तर – अज्ञानी जीव को जब अज्ञान अनादि का है, तब मिथ्याश्रद्धा भी अनादि से चली आ रही है। अनादि की आदि अर्थात् प्रारम्भ नहीं होता। **श्रद्धा की विपरीतता के संस्कार श्रृंखलाबद्ध अनादि से चले आ रहे हैं; प्रतिसमय नवीन-नवीन उत्पाद होने पर भी, श्रृंखला की अपेक्षा प्रत्येक पर्याय में मिथ्या मान्यता अनादि की है;** इसका प्रमाण है समयसार गाथा-2 की टीका का अंतिम चरण। वह निम्न प्रकार है –

स्वसमय की व्याख्या करने के पश्चात् ''किन्तु जब वह (जीव), **अनादि अविद्या (मिथ्या मान्यता) रूपी केले के मूल**

की गाठ की भाँति (पुष्ट हुआ) मोह (द्रव्य मोह) उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से, (अर्थात् ध्रुव का आश्रय नहीं लेने से, द्रव्य मोह के आधीन अज्ञानी हो जाता है) दर्शन ज्ञान (ज्ञाता-दृष्टा) स्वभाव में नियतवृत्ति रूप आत्मतत्व (आत्मास्वभाव) से छूटकर, पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह राग द्वेषादि भावों में एकता रूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होने से युगपत् पर को एकत्व पूर्वक (अपनेपने की मान्यता पूर्वक) जानता और पर रूप से एकत्वपूर्वक परिणमित होता हुआ परसमय (मिथ्यादृष्टि) है, इस प्रकार प्रतीति की जाती है।''

उक्त प्रश्न का सर्वांगीण समाधान आचार्य श्री ने उक्त टीका में बताया है कि अनादि से चली आ रही मिथ्यामान्यतारूपीअविद्या है, उसकी जड़ की गाँठ के समान पुष्ट हुआ, द्रव्यमोह उसके उदय काल में अगर आत्मा ने अपनी मान्यता परिवर्तित नहीं की और द्रव्य मोह के उदय के अनुसार प्रवृत्ति करता रहा तो, ऐसा आत्मा त्रिकाल ज्ञायक स्वभावी आत्मतत्व से छूटकर, पर (शरीरादि पर द्रव्य) में अपनापन करने से जो मोह राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं, उनमें अपनत्वपूर्वक लीन होता है, तब जीव परसमय अर्थात् बहिरात्मा होता है। **इस प्रकार से स्पष्ट है कि उक्त समस्त विपरीतताओं की जड़, अनादि से श्रृंखलाबद्ध चलती आ रही जो मिथ्या मान्यता है, वही है। प्रतिसमय वह मिथ्या मान्यता ही ज्ञान में ज्ञेय होती है, फलतः विपरीत मान्यता श्रृंखलाबद्ध चलती रहती है।**

प्रश्न – उक्त टीका में 'द्रव्यमोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता' भी तो कहा है; अतः मिथ्या मान्यता मोह के उदय की अधीनता के कारण होती है। ऐसा लगता है ?

उत्तर – भाई ! द्रव्यमोह का उदय तो मूर्तिक अचेतन पुद्गल की पर्याय है और भावमोह, अमूर्तिक चेतन ऐसे जीव की पर्याय है। दोनों में जातिगत भेद होने के साथ-साथ परस्पर अत्यंताभाव भी है। अतः द्रव्यमोह चेतन आत्मा को आधीन कर ले, ऐसा तो संभव ही नहीं हो सकता। ऐसा होने पर भी, द्रव्य मोह रूपी निमित्त के बिना भी भावमोह नहीं होता; यह भी नियम है। इसलिये उक्त कथन निमित्त की मुख्यता से किया गया होने से उस अपेक्षा यह भी सत्य है; लेकिन ऐसी वास्तविकता नहीं मान लेना चाहिये। मिथ्या मान्यता रूपीभावमोह का कर्ता तो आत्मा है, द्रव्य मोह नहीं।

विश्व व्यवस्था एवं वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक कार्य अर्थात् परिणमन, पाँच समवाययुक्त ही होता है अर्थात् सहजरूप से पाँच स्थितियों के समवायीकरण पूर्वक कार्य की उत्पत्ति होती है। उसमें स्वभाव, काल, नियति एवं पुरुषार्थ चारों समवाय तो, परिणमन करने वाले द्रव्य में होते हैं, किन्तु एक निमित्त नाम का समवाय, पर द्रव्य का परिणमन होता है, इसलिये कार्य का उत्पादन तो चार समवाययुक्त आत्मा में होता है; किन्तु उस समय ज्ञान का विषय, परपदार्थ रूपी निमित्त का संयोग भी होता है इसलिये उसे नोकर्म कहा है। और वही बहिरंग निमित्त नाम का समवाय है। उसी समय जो भावमोह उत्पन्न हुआ उसमें द्रव्यमोह का उदय, अन्तरंग निमित्त है। इस प्रकार निमित्त के भी दो भेद अन्तरंग-बहिरंग नाम से हो जाते हैं; लेकिन सभी के समवायीकरण का काल एक ही होता है। इस प्रकार एक ही समय पाँचों समवाय होने पर ही भावमोह उत्पन्न होता है, अकेले निमित्त से नहीं होता। क्योंकि अगर द्रव्यमोह के उदय काल में, उपयोग आत्मा में एकाग्र हो और पर की ओर झुका

ही नहीं हो तो भावमोह की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। अतः स्पष्ट है कि अकेला निमित्त, कार्य का नियामक नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि 'द्रव्यमोह के उदयानुसार प्रवृत्ति' का उक्त कथन निमित्त की उपस्थिति सिद्ध करता है और यह भी सिद्ध करता है कि अनादि अविद्या के कारण द्रव्यमोह के उदयकाल में आत्मा का अपनापन पर में होता है, स्व में नहीं होता। इसका ज्ञान कराने के लिये, यह कहा जाता है कि आत्मा ने मोह के उदय की आधीनता स्वीकार करली। वहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि द्रव्य मोह ने आत्मा को आधीन कर लिया। ऐसा कथन आने पर गाथा-3 का सिद्धान्त जाग्रत रहना चाहिये कि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता, वरन् अपने-अपनें गुण पर्यायों को करता है, ऐसे नियम को ज्ञान श्रद्धान में जाग्रत रखना चाहिये, भ्रमित नहीं होना चाहिये। इस प्रकार के कथनों को निमित्त की उपस्थिति सिद्ध करने वाले, निमित्त प्रधान कथन मानना चाहिये।

श्रृंखला तोड़ना अति सरल

प्रश्न – अनादि से चलती आ रही श्रृंखला को तोड़ना कैसे सम्भव हो सकेगा ?

उत्तर – जिस प्रकार अंधकार को नाश करने के लिये, मात्र एक क्षण लगता है; अर्थात् अनन्त काल का अंधकार हो तो भी प्रकाश होते ही नाश हो जाता है। **इसी प्रकार अनादि से पर को अपना मानने की मिथ्या मान्यता श्रृंखलाबद्ध चली आ रही होने पर भी, उसको तोड़ने के लिये, मात्र एक क्षण ही लगता है। अर्थात् स्व को अपना मानने की सम्यक् मान्यता उत्पन्न होते ही, मिथ्या मान्यता का जन्म नहीं होता। फलतः तोड़ने**

का प्रयास करे बिना ही, वह स्वयं नाश को प्राप्त हो जाती है। पण्डित राजमलजी ने कलश 54 की टीका में कहा है – **''कि जीव के यद्यपि मिथ्यात्व अन्धकार अनादि काल से चला आ रहा है। तथा जो सम्यक्त्व हो तो मिथ्यात्व जो एक बार छूटे तो, अहो ! उसे पुनः एकत्व बुद्धि क्यों होगी अपितु नहीं होगी।''** इस प्रकार श्रृंखला का तोड़ना तो अत्यन्त सरल है; लेकिन सम्यक् मान्यता उत्पन्न करने के लिये सम्यक् पुरुषार्थ होना चाहिये। **मिथ्या मान्यता के नाश करने का पुरुषार्थ नहीं होकर, सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न करने का पुरुषार्थ होना चाहिये।**

सम्यक् मान्यता उत्पन्न करने के उपायों पर विस्तार से चर्चा पूर्व प्रकरणों में कर चुके हैं। **कि सिद्ध भगवान् बनने की रुचि पूर्वक यथार्थ दृष्टि के साथ, वीतरागता की कसौटी को जाग्रत रखते हुए सत्समागमपूर्वक, समयसार गाथा-5 में बताये मार्ग के अनुसार तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ट 258 की पद्धति अपनाकर आत्मस्वरूप का निर्णय करना चाहिये। गाथा-5 की टीका एवं पृष्ठ 258 का कथन मूलतः अध्ययन करके ग्रहण करना चाहिये, विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखा है। तद्नुसार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ पूर्वक अध्ययन चिन्तन, मनन आदि द्वारा अपने स्वरूप में अपनापन करने के लिये तथा परज्ञेय मात्र से अपनत्व तोड़ने के लिये यथार्थ एवं निःशंक निर्णय करना चाहिये।**

ऐसे निर्णीत विषय में अपनत्व की निःशंक एवं दृढ़तम श्रद्धा उत्पन्न होते ही, आत्मानुभूतिपूर्वक (तत्क्षण ही) अनादि की श्रृंखला स्वतः ही (तोड़ने के पुरुषार्थ बिना ही) नाश को प्राप्त हो जावेगी। मिथ्या श्रद्धा तोड़ने का यही सत्यार्थ मार्ग है अन्य किसी भी उपाय

से श्रृंखला नहीं टूट सकेगी। जैसे अपरिचित व्यक्ति का नाम जानना हो तो, उसकी कितने भी कालतक सेवा सुश्रुषा की जावे तो भी नाम का अज्ञान नहीं मिट सकता; सत्यार्थ उपाय एक ही है कि उस व्यक्ति से ही स्वयं उसका नाम पूछ लिया जावे। इसी प्रकार अपने स्वरूप की अजानकारी दूर करने का उपाय एक ही है कि जिनवाणी द्वारा ही उसका स्वरूप जान लिया जावे।

विकारी पर्याय के सम्बन्ध में

प्रश्न – विकार का ज्ञान, न तो स्वज्ञेय है और न परज्ञेय, किन्तु वह ज्ञान में ज्ञात तो होता ही है। अतः वह निरस्त कैसे होगा?

उत्तर – त्रिकाली ज्ञायक में अपनत्व होते ही, स्वज्ञेय ऐसा ज्ञायक ज्ञात होता है और सब ज्ञेय गौण रह जाते हैं। वर्तमान प्रकरण में द्रव्य की उत्पाद व्यय स्वभावी पर्याय को पर्याय नहीं कहा है वरन् पर्यायार्थिक नय के विषय जो भी हों वे सभी, पर्याय के नाम से कहे गये हैं। उत्पाद-व्ययस्वभावी पर्याय को तो काल नाम के अनित्य भेद में सम्मिलित कर, त्रिकाली ज्ञायक में उसका अभाव सिद्ध करते आये हैं। इस प्रकार त्रिकाली ज्ञायक में तो पर्यायार्थिकनय के सभी भेदों का अभाव रहता है, इस प्रकार विकारी पर्याय भी निरस्त हो जाती है। फिर भी उसका अस्तित्व त्रिकाली में नहीं होने पर भी एक समयवर्ती आत्मा में रहने से वह, ज्ञानी को व्यवहारनय से हेयबुद्धिपूर्वक परज्ञेय के रूप में ज्ञात होती है; उपादेय बुद्धि पूर्वक और स्वज्ञेय के रूप में नहीं। इसलिये त्रिकाली ज्ञायक में तो सभी पर्यायें निरस्त हो जाती हैं। विकारी-अविकारी पर्याय का भेद नहीं रहता।

प्रश्न – तब आत्मा को विकारी क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – विकार का एक समयवर्ती परिणमन तो है ही; इसलिये पर्यायार्थिकनय से ऐसा कथन सत्यार्थ है; लेकिन उसके कारण आत्मा को विकारी कहना यह उपचार कथन है। पर्याय का द्रव्य में उपचार करके ऐसा कहा जाता है कि विकारी पर्याय का कर्ता आत्मा है, वास्तव में ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है, वह कर्ता नहीं होता। इसी आशय को लेकर समयसार की गाथा-6 में प्रमत्त अर्थात् अशुद्ध पर्याय एवं अप्रमत्त अर्थात् शुद्ध पर्याय से रहित आत्मा को ज्ञायक मात्र कहा है। क्योंकि अप्रमत्तपना भी कर्मों के उपचार के अभाव की अपेक्षा कहा जाता है। इस प्रकार गाथा-6 में तो आचार्य श्री ने कर्मों के उपचार तथा ज्ञान में ज्ञेय का उपचार, इस प्रकार सभी उपचारों को निरस्त कर ज्ञायक भाव की स्थापना की है। और आगामी गाथा-7 में समस्त भेद रूप व्यवहार का निषेध कर अभेद ज्ञायक की स्थापना की है। इससे आगे गाथा 8-9-10 भी भेदरूप व्यवहार के निषेध के समर्थन की ही गाथाएँ हैं। गाथा 11-12 में तो सभी प्रकार के व्यवहारों का निषेध करके एकमात्र शुद्धनय और उसके विषय की स्थापना की है। तात्पर्य यह है कि शुद्धनय के विषय में अपनत्व के उद्देश्य से भेदज्ञान पूर्वक आत्मोपलब्धि प्राप्त कराकर, सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रगट कराने वाला पूरा समयसार ग्रन्थाधिराज है। उक्त सभी गाथाओं की टीका एवं उनके प्रवचनों एवं अनुशीलन को, उक्त दृष्टि पूर्वक अध्ययन किया जाना अत्यन्त प्रयोजनभूत है।

वास्तव में पर्याय भी तो ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन है। ज्ञायक तो उसका भी ज्ञायक है। पर्याय की विकृति की कर्ता तो विपरीत मान्यता रूप परिणमने की योग्यता है, ज्ञायक नहीं। ज्ञान ने तो अपनी ज्ञानपर्याय को ही जाना है, विकार को नहीं। आत्मा ने ज्ञानपर्याय को जाना यह कहना भी उपचार कथन है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

भावकर्म का अस्तित्व भी नहीं रहता

अज्ञानदशा में पर्याय में होने वाले विकारी भावों (भाव कर्मों) को अपने में हुए मानता था और ऐसी मान्यता के कारण उनको रक्षण-पोषण भी मिलता था। लेकिन ज्ञायक में अपनत्व होने पर वे सब अनित्यस्वभावी पर्याय होने से पर्यायार्थिकनय के विषय में सम्मिलित होकर गौण रह जाती हैं; फलतः अपनत्व नहीं करा सकतीं और अन्य परज्ञेयों के साथ विकारी भाव भी गौण रह जाते हैं। फलस्वरूप मिथ्यात्व उत्पन्न ही नहीं होगा और भावकर्म भी परज्ञेय भासने लग जावेंगे। मेरे में उनका अस्तित्व नहीं भासेगा। इस प्रकार उनका अभाव करना नहीं पड़ेगा वरन् वे स्वयं नाश को प्राप्त हो जावेंगे और निमित्त रूप द्रव्यकर्म भी स्वतः बिना फल दिये अकर्म रूप परिणम जावेंगे।

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि जो आत्मा मृत्युकाल में शरीर से निकलकर जावेगा, वही आत्मा वर्तमान में भी मेरे शरीर में विद्यमान है और इसी का अस्तित्व अनादि-अनन्त रहने वाला है। ऐसे मेरे आत्मा को अज्ञान दशा में जो भी ज्ञेय ज्ञात होते थे, उनको अपना मानकर, उनके रक्षण-पोषण में पूरा पुरुषार्थ लगाकर भटकता था। अब मुझे जिनवाणी के प्रसाद से सत्यार्थ मार्ग प्राप्त हुआ है और उसके माध्यम से अपनत्व करने योग्य विषय को पहिचानने के लिये अनुसंधान किया। फलस्वरूप निर्णय प्राप्त हुआ कि जिनको अभी तक मैंने मेरा मान रखा था, उनमें से कोई भी मेरा नहीं था। और जो वास्तविक में मेरा है, ऐसा त्रिकाली ज्ञायक अनादि-अनन्त रहने वाला वह मेरा स्वरूप है, उसका स्वरूप स्पष्ट होकर ज्ञात हो गया और उसमें अपनत्व की श्रद्धा जाग्रत हो गई। साथ ही सत्यार्थ मार्ग प्राप्त करने की भटकन भी समाप्त हो गई। अब मुझे निःशंक विश्वास

हो गया कि परज्ञेयों का ज्ञान भी मेरी ज्ञान पर्याय ही है; अतः परज्ञेयों के जानने के लिए भी मुझे उनके सन्मुख होना नहीं है; वे तो सभी क्रमबद्ध अपनी योग्यतानुसार परिणमेंगे ही और परिणम भी रहे हैं; इस प्रकार ज्ञेय मात्र से मेरा कोई प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। मैं तो अपने आप का ही त्रिकाल ज्ञायक हूँ। ऐसी श्रद्धा से परिणति भी सिमटकर स्व में एकाग्र हो जाती है।

आत्मा त्रिकाली ज्ञायक कैसे ?

प्रश्न – ज्ञायक, त्रिकाली ज्ञायक कैसे ?

उत्तर – एक तो ज्ञान अर्थात् जानना आत्मा का लक्षण है; तथा समयसार गाथा-2 में समय का स्वरूप बताया है कि एकत्वपूर्वक जानना और परिणमना, अर्थात् आत्मा का प्रत्येक परिणमन जानते हुए ही होता है, इस प्रकार अनवरत रूप से ज्ञायकपना प्रत्येक पर्याय में चालू रहता है। समयसार परिशिष्ट के अनुसार आत्मा के अनन्तगुणों का परिणमन भी ज्ञान में ही उछलता है, अर्थात् सब गुणों का कार्य ज्ञान द्वारा प्रकाशित होता है। और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है। अर्थात् स्व एवं पर के ज्ञानरूप तो मेरा ज्ञान ही परिणमता है। **तात्पर्य यह है कि आत्मा की सामर्थ्यों सहित, लोकालोक का ज्ञाता आत्मा की ज्ञान पर्याय है।** अतः आत्मा ज्ञान द्वारा, स्व-पर सबका ज्ञाता है और वह ज्ञायकपना तो प्रत्येक परिणमन में स्पष्ट प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार सिद्ध है कि आत्मा प्रत्येक पर्याय में ज्ञायक है और पर्याय तो निरन्तर वर्तती है तथा ध्रुव भी ध्रुव रूप से अनादि अनन्त वर्तता है। जानना आत्मा का मूल स्वभाव है और स्वभाव, कभी स्वभाववान् से भिन्न नहीं होता। अतः मेरा ज्ञायकस्वभाव ही श्रृंखलाबद्ध वर्तने वाला द्रव्य है, इसलिये

नित्यस्वभावीद्रव्य ही धारावाहिक वर्तनेवाला त्रिकाली ज्ञायक है।

वास्तव में तो ऐसा ज्ञायकस्वभावीआत्मद्रव्य, प्रमाण रूप पूरा आत्मा है; अकेली पर्याय नहीं। पर्याय तो प्रमाण रूप द्रव्य का, कालचतुष्ट्य का अनित्य स्वभावी परिणमन है जो कि पर्यायार्थिकनय का विषय है। किन्तु उसी समय कालचतुष्ट्य का नित्यस्वभावी-अभेद-अखण्डध्रुवतत्व भी तो विद्यमान है। अर्थात् ज्ञायक भी तो प्रत्येक परिणमन में, अखण्डधाराप्रवाहरूप वर्त रहा है। इस प्रकार आत्मा तो अखण्डधाराप्रवाह रूप से अनादि-अनन्त वर्तता हुआ, त्रिकालीज्ञायक है; समयवर्ती ज्ञायकपना मेरा स्वरूप नहीं है। समयवर्ती ज्ञायकपना तो मात्र परिणमन (पर्याय) है; परन्तु पर्याय तो मैं हूँ नहीं, इसलिये मैं तो त्रिकाली ज्ञायक हूँ।

ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय के भेद भी नहीं रहते

प्रश्न – आत्मा का ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है। आत्मा ज्ञान के द्वारा स्व एवं पर को जानता है। और द्वैत में आत्मानुभूति हो नहीं सकती, अतः उक्त भेद कैसे निरस्त हो सकेंगे ?

उत्तर – आत्मा ज्ञान स्वभावी है और ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है तथा वह ज्ञान द्वारा स्व-पर को जानता है, यह तो यथार्थ है और सब भेद निरस्त होने पर ही आत्मानुभूति होती है, यह भी यथार्थ है। **लेकिन वास्तविकता तो यह है कि आत्मा में इस प्रकार के भेद हैं ही नहीं; ये तो समझाने के लिये भेद करके समझाया जाता है।** वास्तव में तो आत्मा ज्ञान स्वभावी होने से स्वयं ही ज्ञान है, स्व-पर ज्ञेयाकार परिणत जानन क्रिया भी ज्ञान है, स्व को जानने से ज्ञेय भी स्वयं ही है? इस प्रकार ज्ञान के द्वारा ज्ञान ने ज्ञान को ही, जाना और ज्ञान ही आत्मा है तो इसमें भेद कहाँ रह जाता है ? लेकिन भेद

करके समझाये बिना, अभेद, समझ में आकर निर्णय होना कठिन होता है। इसलिये भेद तो समझाने के लिये करने पड़ते हैं।

प्रश्न – जानने में पर का ज्ञान भी तो होता है; अतः भेद निरस्त कैसे हो जावेगा ?

उत्तर – जब ज्ञान का स्वभाव जानना है तो वह किस को नहीं जानेगा ? जानने वाली पर्याय तो एक ही होती है, वह स्व को भी जानेगी और पर को भी जानेगी। स्व में तो आत्मा में रहने वाले समस्त गुण व पर्यायें आ जाती है और पर में लोक-अलोक आदि सभी आ जाते हैं। जिनका स्व में सद्भाव नहीं हो उन सबको भी पूर्णज्ञान तो एक साथ प्रत्यक्ष जान लेता है और अपूर्ण ज्ञान उन ही को परोक्ष जानता है। लेकिन जाने बिना कोई भी नहीं रहता। विशेषता यह है कि जिनको भी जानता है, उनके गुण अथवा दोष ज्ञान में नहीं आते और ज्ञान किसी में गुण-दोष का उत्पादन भी नहीं करता। तात्पर्य यह है कि तटस्थ रहकर मात्र जानता है; विकृति-अविकृति होने में उसका कोई भी प्रकार का योगदान नहीं होता।

जीव के अनन्त गुणों में ज्ञान भी एक गुण है, द्रव्य के परिणमन में अनन्तगुणों के साथ ज्ञान भी परिणमता है; उन सबका कार्यक्षेत्र आत्मा के असंख्य प्रदेश ही हैं। अतः ज्ञान की जानन क्रिया भी आत्मा के असंख्य प्रदेशी स्व क्षेत्र में ही होती है अर्थात् जानना स्वक्षेत्र में ही होता है, ज्ञेय के क्षेत्र में नहीं। ज्ञेय तक पहुँचकर भी नहीं होता अपितु ज्ञेय के सन्मुख होकर भी नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान स्वयं ही अपनी योग्यता से ज्ञेय के आकार परिणम जाता है और उस ज्ञेयाकार परिणत ज्ञान को ही ज्ञान जानता है। किन्तु प्रकाश में ज्ञान आने से, ज्ञान ने ज्ञेयों को

जाना ऐसा उपचार से कह दिया जाता है। ज्ञान में ज्ञेय का आकार वह वास्तव में ज्ञान का ही आकार है, जो ज्ञान की तत्समय की योग्यता का परिचायक है। उसी पर्याय में पर का जानना भी होता है। परज्ञेय, निकटवर्ती हों अथवा दूरवर्ती, कोई भी आत्मा के समीप नहीं आते और आत्मा भी अपना स्वक्षेत्र छोड़कर, ज्ञेय के क्षेत्र में नही जाता वरन् ज्ञेय के सन्मुख भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की वही पर्याय स्वज्ञेय के आकार तथा पर ज्ञेय के आकार परिणत हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान के सन्मुख अपने आपमें रहते हुए, अपनी ज्ञानपर्याय को ज्ञान जानता है। **जानने की प्रक्रिया तो सभी के ज्ञान की सर्वत्र और सदैव यही है, पूर्णज्ञान हो अथवा अपूर्ण ज्ञान हो, प्रक्रिया तो सभी की समान रहती है;** अंतर तो मात्र जानने के विषयों में एवं उनकी हीनाधिकता तथा प्रत्यक्षता परोक्षता का रहता है। **ज्ञान मिथ्या हो अथवा सम्यक् हो जानने की प्रक्रिया में अन्तर नहीं पड़ता।**

इस प्रकार अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञान ने, अपनी ज्ञान पर्यायरूप ज्ञेय को, ज्ञान द्वारा जाना है। क्योंकि आत्मा के अनन्तगुणों में से, जानने का सामर्थ्य तो, एक ज्ञान में ही है। इस प्रकार जानने वाला अन्य नहीं होता, ज्ञान ही ज्ञायक है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान का आत्मा के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान भी ज्ञान है, ज्ञाता भी ज्ञान है एवं ज्ञेय भी ज्ञान है। ऐसी स्थिति को मात्र समझाने के लिये भेद करके समझाया जाता है कि आत्मा ज्ञायक ने, ज्ञान द्वारा, स्व एवं परज्ञेयों को जाना; लेकिन वास्तव में वे सब एक ज्ञान ही है। जानन क्रिया स्वाभाविक क्रिया होने से उसका तादात्म्य ज्ञायक के साथ होने से ज्ञान और ज्ञायक भी अभेद हैं। इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद भी निरस्त होकर, एक चिन्मात्रभाव-चैतन्य स्वरूप भासता है।

अपनत्व का विषय

सभी को अनुभव है कि मृत्यु काल में जो शरीर में से निकलकर जाता है वही आत्मा है और उसका नाश भी कोई नहीं मानता। जिसको 'मैं' मानता रहा ऐसे इस शरीर को तो जला देने से अस्तित्व समाप्त होता हुआ सब कोई प्रत्यक्ष देखते हैं। जो शरीर जला दिया जाता है उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले, स्त्री-पुत्रादि तथा मकान रुपया-पैसा आदि का तो नाश नहीं होता, परन्तु उनके साथ आत्मा का मेरेपने का सम्बन्ध भी शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। लेकिन सम्बन्ध मानने वाला ऐसा जो मेरा आत्मा उसका नाश नहीं होता। वह इस शरीर से निकलकर अन्य शरीर में उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शरीर जिसको मैंने मेरा मान रखा था वह मेरे साथ नहीं जाता। इससे स्पष्ट है कि वह मेरा नहीं था फलतः मेरा मानने की मान्यता भी मिथ्या थी। ज्ञानधारी आत्मा जो शरीर से निकल कर गया, वह जानने की शक्ति भी साथ ले गया और उसका अस्तित्व भी समाप्त नहीं हुआ। इससे सिद्ध है कि मेरा अस्तित्व तो अनादि अनन्त ज्ञायक ही था और है। इसलिये 'मैं' तो ज्ञायक ही हूँ, शरीर नहीं। लेकिन मैंने न तो ज्ञायक को अभी तक पहिचाना और न मेरा अस्तित्व उस रूप माना; वास्तव में यह मेरी भूल है। अब यह विश्वास जाग्रत होता है कि 'मैं' तो वही ज्ञानधारक आत्मा वर्तमान में भी हूँ जो मृत्यु होने पर शरीर छोड़कर जावेगा, शरीर में नहीं हूँ।

जो आत्मा शरीर से निकलकर जाता है, वह अमूर्तिक होते हुए भी असंख्यप्रदेशी एक पदार्थ है; जिसमें ज्ञान की असाधारण शक्ति के अतिरिक्त अनन्त अन्य शक्तियाँ भी रहती है। इसलिये ऐसा अमूर्तिक महापदार्थ, शरीर से निकलकर जाते समय इन्द्रिय

गोचर नहीं होता, और अनन्त शक्तियों का धारक होते हुवे भी, अभेद-अखण्ड एक के रूप में ही रहता है। ऐसा महा पदार्थ त्रिकाल ध्रुव रहता हुआ, प्रतिसमय पलटता-परिणमन भी करता है ऐसा अनुभव में भी आता हैं। वर्षों पहले की घटना किसी भी समय प्रत्यक्ष हो जाती है, इससे आत्मा का ध्रुवत्व एवं परिणमन स्वभाव दोनों प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आते हैं।

ऐसे 'मेरे आत्मा' को पहिचानने का लक्षण ज्ञान है, जिसके द्वारा मेरा अस्तित्व बहुत सुगमता से पहिचाना जाता है। यह भी अनुभव है कि किसी-किसी जीव को शरीर परिवर्तन हो जाने पर भी, पिछले भव की घटनाओं का ज्ञान वर्तमान में प्रत्यक्ष हो जाता है। इससे ज्ञायक का अस्तित्व अनादि-अनन्त सिद्ध होता है एवं ज्ञान की असाधारण सामर्थ्य का भी विश्वास होता है। वह ज्ञान स्व एवं पर सब का जानने वाला है। ऐसा ज्ञान, अपने आत्मा के समस्त कार्यकलायों के अतिरिक्त, आत्मा से भिन्न अस्तित्व रखने वाले ऐसे छह जाति के अनन्तानन्त पदार्थों के समस्त कार्यकलापों को भी जान लेता है। ऐसी सामर्थ्य आत्मा की अनन्त शक्तियों में से किसी शक्ति में नहीं है। और वह त्रिकाल जानता ही रहता है। ज्ञान की विशेषता यह है कि इसके जानने का क्षेत्र आत्मा के असंख्य प्रदेश ही रहते हैं। अन्य द्रव्यों के कार्यकलापों को जानने के लिये, आत्मा अपने प्रदेशों से बाहर नहीं जाता और जानने के लिये उनके सन्मुख भी नहीं होना पड़ता तथा ज्ञेय को भी इसके पास नहीं आना होता। ज्ञेय कितने भी हों, सबका ज्ञान अपने में रहते हुवे हो जाता है। साथ ही जानने में स्वज्ञेय हो अथवा परज्ञेय, उनकी विकृति को जानने से ज्ञान विकृत नहीं होता, वह तो उनसे निरपेक्ष रहते हुए मात्र जानता है। और जानने के विषय कितने भी हों, उनका भार भी आत्मा में नहीं होता, यह भी आत्मा के अमूर्तत्व स्वभाव को सिद्ध

करता है। शरीर से निकलकर जाने वाला, मेरा अमूर्तिक आत्मा, ऐसी अनन्त सामर्थ्यों का धारक है।

इस प्रकार की अनन्त सामर्थ्यों के धारक आत्मा की जानने की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। उसका ज्ञान ज्ञेय से निरपेक्ष रहते हुए जानता है और जो जानने की प्रक्रिया होती है, वह भी ज्ञान का ही परिणमन है। ज्ञान अपनी योग्यता से ज्ञेय के आकार होता हुआ परिणमता है। इसमें ज्ञेय का कोई योगदान नहीं होता; मात्र सहज बनने वाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध भी इतना ही है कि ज्ञान का वह परिणमन ज्ञेय के अनुरूप हो और ज्ञेय उस समय ज्ञान के परिणमन के अनुकूल परिणमता हुआ हो। दोनों के परिणमन, अपनी-अपनी योग्यता से स्वतंत्रतापूर्वक उनमें ही होते हैं। ऐसी-ऐसी सामर्थ्यों का धारी मेरा आत्माा है, जो मृत्युकाल में शरीर छोड़कर जाता है। यही प्रमाण का विषयभूत आत्मा है और वर्तमान में भी यही 'मैं' हूँ।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान की जानने की प्रक्रिया, आत्मा के असंख्य प्रदेशों में, उसकी स्वयं की योग्यता से, ज्ञेय से निरपेक्ष रहते हुए भी प्रत्येक समय होती रहती है।

तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार से भी परद्रव्य के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोड़ने वाला कोई गुण है तो वह एक ज्ञान ही है; क्योंकि ज्ञान अपने क्षेत्र में रहते हुए पर को जानता है। पर द्रव्य के भी अपने-अपने प्रदेश हैं, उनका कार्यक्षेत्र भी उनके प्रदेश हैं; इसलिये वास्तव में कोई द्रव्य किसी से कोई प्रकार का सम्बन्ध कर ही नहीं सकता। किन्तु ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है कि वह किसी को स्पर्श किये बिना भी उनको अपनी योग्यता से अपने प्रदेशों

में रहकर जान लेता है। ज्ञेय को तो पता भी नहीं होता कि कोई उसे जान भी रहा है। **इन सब कारणों से ज्ञेय से निरपेक्ष रहते हुए ज्ञान के परिणमन की स्वतंत्रता सिद्ध होती है।**

उपर्युक्त स्पष्टीकरण समझने से अनेक सिद्धान्त प्रतिफलित होते हैं। आत्मा का पर से, मात्र जानने का तो सम्बन्ध बनता है लेकिन उनमें कुछ कर सकने की सामर्थ्य तो ज्ञान में भी नहीं है तथा विकृत करने की भी सामर्थ्य नहीं है। **अज्ञानी का ज्ञान भी, परज्ञेयों को अपना मानने से तथा जानने से भी, उनमें परिवर्तन करने वाला, विकृति करने वाला अथवा उनसे विकृत होने वाला नहीं है। इस प्रकार अज्ञानी की परज्ञेयों में कर्तृत्व की मान्यता, मिथ्या एवं आधार रहित सिद्ध होती है।**

जानन क्रिया भी आत्मा के स्वक्षेत्र में ही होती है, परज्ञेयों का ज्ञान भी, ज्ञान की पर्याय है। इस प्रकार अपनी ज्ञानपर्याय को जानने से ही, परज्ञेयों का ज्ञान भी आत्मा को हो जाता है अर्थात् **अपने (ज्ञान को) जानने में, पर का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। ज्ञान को परज्ञेयों को जानने के लिये परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता वरन् स्वमुखापेक्षी परिणमन मैं, परज्ञेयों का ज्ञान भी आ जाता है, इन्द्रियों का माध्यम भी छूट जाता है।** क्योंकि बहिर्मुखापेक्षी ज्ञान में ही इन्द्रियाँ निमित्त होती थीं। फलतः **अज्ञान दशा में जो ज्ञान, परज्ञेयों में भटकता फिरता था वही ज्ञान सब ओर से सिमटकर, मात्र स्व में मर्यादित हो जाता है। और ज्ञायक की सन्मुखता प्रारम्भ हो जाती है, साथ ही परज्ञेय सहजरूप से उपेक्षित अर्थात् गौण रह जाते हैं।** उनमें परत्वबुद्धि उत्पन्न हो जाने से, वे परिणति को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। क्योंकि समयसार गाथा-3 के तथा अन्य अध्ययनों के माध्यम से आत्मार्थी

को, इस प्रकार की श्रद्धा जाग्रत हो चुकी होती है कि परज्ञेय मात्र, (जिनका ज्ञायक में सद्भाव नहीं हो ऐसे अपनी पर्याय सहित सभी परज्ञेय) के परिणमन स्वतंत्र हैं, वे अपनी-अपनी योग्यतानुसार क्रमबद्ध परिणम रहे हैं; उनको मेरे से कोई अपेक्षा नहीं है और न उनका मेरे से कोई प्रकार का संबंध भी हैं; और उनका ज्ञान भी मेरी ही ज्ञान पर्याय है। इसलिये वास्तव में तो 'मैं' मेरी ज्ञान पर्याय को जान रहा हूँ; ऐसे जानने में तो ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों का सद्भाव रहते हुए भी वे गौण रह जाते हैं। इस प्रकार से पर ज्ञेयों का जानना तो यथार्थ है, उपचरित नहीं है। लेकिन (ज्ञानपर्याय को छोड़कर) ज्ञेय पदार्थों को जानना कहना, उपचार कथन है। इस प्रकार की श्रद्धा वर्तने से परिणति का झुकाव, परज्ञेयों से व्यावृत्य होकर, ज्ञायक के सन्मुख बना रहता है। अन्ततोगत्वा आत्मानुभूति प्राप्त करा देता है।

तीसरी उपलब्धि यह है कि उपर्युक्त स्थिति श्रद्धापूर्वक निःशंक होकर स्वीकृत होने से, अनादि से चली आ रही पर को अपना मानने की मिथ्या मान्यता विसर्जित हो जाती है। **उपर्युक्त प्रकार से जब पर पदार्थों के साथ जानने का भी सम्बन्ध नहीं रहता तो उनमें करने-धरने की मान्यता का तो अवकाश ही समाप्त हो जाता है। फलस्वरूप मिथ्या मान्यता का उत्पाद ही नहीं होगा और सत्यार्थ मान्यता का उत्पाद, प्रारम्भ होकर, अनादि से चली आ रही मिथ्यात्व की श्रृंखला टूटकर, सम्यक्श्रद्धा की श्रृंखला प्रारम्भ हो जावेगी।**

चौथी सर्वात्कृष्ट उपलब्धि यह होगी कि अपनत्व का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय, जो अभी तक अस्पष्ट था, वह स्पष्ट होकर निर्णय में आ जावेगा। यथा आत्मा में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के भेद तथा पर्यायार्थिकनय के विषय, ऐसे सामान्य-

विशेष की, प्रदेश भेदों की, उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय की एवं अनन्तगुणों के भेदों की, इस प्रकार अनन्तानन्त भेदों की अनेकताएँ ज्ञान में आती थीं; तथा अनन्ते परजीव तथा पाँचों द्रव्यों के गुण व पर्यायों की अनेकताएँ भी ज्ञान में ज्ञात होती थीं। उन अनेकताओं में से अपनत्व करने योग्य विषय पहिचानना असम्भव जैसा लगता था। **उन सब अनन्तताओं को समेटकर, उक्त स्पष्टीकरण ने अपनी एक समयवर्ती ज्ञानपर्याय के स्व-पर ज्ञेयाकारों रूप परिणत ज्ञान पर्याय में मर्यादित कर दिया तत्पश्चात् उससे भी नयज्ञान द्वारा भेद करके, अकेले शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ज्ञायक में अपनत्व करा दिया।** ऐसा महान् उपकार उपरोक्त विवेचन का है। उपर्युक्त श्रद्धा होने से दृष्टि का अर्थात् अपनत्व का विषय, मात्र एक त्रिकाली ज्ञायक रहकर, परिणति का सब ओर से सिमटकर, ज्ञायक की ओर झुकना प्रारम्भ हो जाता है। इसप्रकार उक्त अनेकताएँ ज्ञान में गौण रहकर अकेला ज्ञायक ही मुख्य रह जाता है।

सदभूत नय के विषय, जिनका आत्मा में सद्भाव वर्तता है, किन्तु ज्ञायक में सद्भाव नहीं रहता फिर भी जिनकी अनेकता ज्ञान में ज्ञात होती थी। उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा से अभिन्न होते हुवे भी, उन**का पर्यायार्थिकनय में समावेश हो जाने से उनमें अपनत्व करने योग्य कोई भी नहीं रहता, और वे भी स्वत: गौण रह जाते हैं। अकेला शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय ही अपनत्व का विषय रह जाता है।** तात्पर्य यह है कि द्वैत ही नहीं रहता।

अब तो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय त्रिकाली ज्ञायक, जिसमें सभी प्रकार के द्वैतों का अभाव है, ऐसा अद्वैत एक चिन्मात्र भाव

ही रह जाता है, उसी में परिणति को एकाग्र करना है। उसी से सर्वसिद्धि है।

परपदार्थ से एकत्व तोड़ने का उपाय

भगवान अरहंत को तो ज्ञायक में अपनापन होने से तथा चारित्र की पूर्णता हो जाने से, स्व में लीन (तन्मय) रहते हुए, अपने में ही स्व-पर को प्रत्यक्ष जानते हैं। स्व में तन्मय रहते हुए पर का ज्ञान, तन्मयता रहित वर्तने से रागोत्पादक नहीं होता। फलतः अरहंत को अनवरत रूप से अनाकुल आनन्द वर्तता रहता है। इसके विपरीत अज्ञानी का पर में अपनापन होने से एवं चारित्र के अभाव के कारण स्व में अपनत्व तो होता नहीं अपितु पर पदार्थों के सन्मुख होकर उनमें ही एकत्वतापूर्वक वर्तता है। फलतः उनमें तन्मय होने की चेष्टा करता है। क्योंकि उसको अपनी ज्ञान की जानने की प्रक्रिया की तो श्रद्धा एवं परिचय भी नहीं होता। फलतः उसका ज्ञान तो पर पदार्थों को अपना मानते हुए इन्द्रियाधीन होकर पर में ही एकत्वता पूर्वक परिणमता रहता है।

ऐसे अज्ञानी को ज्ञायक में अपनत्व करने के लिये, सर्वप्रथम तो समयसार गाथा-3 के अनुसार, प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा जाग्रत करना चाहिये; ऐसी श्रद्धा से पर पदार्थों के प्रति कर्तृत्व का अभिप्राय छूटता है। तत्पश्चात् आत्मा का मूल स्वभाव जानना है, उनके स्वरूप की यथार्थ समझ द्वारा, ज्ञायक का स्वरूप समझकर उसमें अपनत्व करने के लिये, ज्ञेयों के जानने की वास्तविक प्रक्रिया को समझना चाहिये। क्योंकि परज्ञेयों का कोई प्रकार का सम्बन्ध आत्मा के साथ बनता है तो मात्र विपरीत मान्यता के साथ जानने की क्रिया के द्वारा ही बनता है, अन्य कोई माध्यम सम्बन्ध

बनने का नहीं है। जाननक्रिया की यथार्थ समझ के द्वारा स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञेय को जानने के लिये, स्वक्षेत्र से बाहर ज्ञेय के क्षेत्र में जाता नहीं, और ज्ञेय भी अपना क्षेत्र छोड़कर ज्ञान के पास नहीं आता। इतना अवश्य है कि ज्ञेयों में प्रमेयत्व गुण होने से, जो कोई उनको जानने रूप परिणमता हो, उन सभी के जानने में वे निमित्त हो जाते है। इस प्रकार ज्ञेय तो अपनी योग्यतानुसार परिणमते रहते हैं। वास्तव में तो ज्ञान का परिणमन, ज्ञान की तत्समयवर्ती योग्यतानुसार होता है। लेकिन ज्ञान पर्याय किस ज्ञेय के आकार परिणमी है, उसका परिचय कराने के लिये निमित्त की प्रधानता से ज्ञेयाकार ज्ञान ऐसा कथन किया जाता है। **इससे स्पष्ट है कि ज्ञेय पदार्थों से निरपेक्ष रहते हुए, ज्ञान अपनी स्वयं की योग्यता से ज्ञेयाकार रूप परिणमता है, इसी को ज्ञेयों का जानना कहा जाता है।**

उक्त जाननक्रिया से स्पष्ट है कि आत्मा की ज्ञान पर्याय स्वयं की योग्यता से ज्ञेयाकार परिणम कर, ज्ञेयों को अपने में रहते हुए जानती है, ज्ञेयों के पास पहुँच कर नहीं। ऐसी वस्तु की स्वाभाविक स्थिति समझने से, पर पदार्थों के प्रति स्वामित्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि समाप्त हो जाती है। और ऐसी श्रद्धा के द्वारा सब ओर से परिणति सिमटकर ज्ञायक के सन्मुख हो जाती है। परिणति की ऐसी दशा ही ज्ञायक में अपनत्व का प्रारम्भिक उपाय है; क्योंकि जाननक्रिया स्वाभाविक क्रिया है। और उसका आत्मा के साथ तादात्म्य है। लेकिन ऐसी पर्याय भी अपनापन करने योग्य नहीं है। क्योंकि ज्ञायक तो ज्ञान के अतिरिक्त अनन्त शक्तियों का अखण्ड पिण्ड है। **इतना अवश्य है कि जाननक्रिया की यथार्थ समझ से, रुचि ज्ञायक में एकत्व करने के सन्मुख हो जाती है। और पर पदार्थों में अपनेपन की मान्यता ढीली होना प्रारम्भ हो जाती है।**

जाननक्रिया में तो परपदार्थों के अतिरिक्त, आत्मा में होने वाले अनेक विकारी-निर्विकारी भाव एवं आत्मा में बसने वाले अनन्तगुण भी ज्ञात होते हैं; परन्तु वे भी सद्भूतनय के विषय हैं। स्वज्ञेय तो एकमात्र, सामान्य-अभेद-नित्य एवं एक, ध्रुव रूप रहने वाला ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध से भी निरपेक्ष चिन्मात्र ऐसा ज्ञायक ही है। उक्त सद्भूतनय के सभी प्रकार के भाव (आत्मा के प्रदेशों में रहते हुए भी) परज्ञेय हैं। प्रमेयत्व गुण तो आत्मा में भी व्याप्त है; इसलिये जाननक्रिया में तो वे भी ज्ञात हुए बिना नहीं रहते। परन्तु वे अपनत्व योग्य नहीं होते। अज्ञानी को वास्तविकता की समझ नहीं होने से एवं ज्ञायक में अपनत्व की श्रद्धा के अभाव में, उन सद्भूत विषयों रूप अपने को मान लेता है। **इस अपेक्षा पर पदार्थों में अपनत्व की मान्यता एवं उक्त भावों में अपनत्व की मान्यता में कोई अन्तर नहीं रहता, दोनों ही मिथ्याभाव है।**

उक्त सद्भूतनय के सभी प्रकार के भाव, आत्मा में होते हुए भी मैं नहीं हूँ, परज्ञेय है। मैं तो उनसे भी निरपेक्ष मात्र ज्ञायक हूँ। किन्तु पर पदार्थों के प्रदेश तो आत्मा के प्रदेशों से भिन्न है परन्तु इनके नहीं। इनके प्रदेश और आत्मा के प्रदेश एक ही हैं; इसलिये इनमें परत्व समझने की प्रणाली में भी अन्तर पड़ता है। **इनके भेदज्ञान में भेदरूपी व्यवहार मुख्य रहता है।** जैसे विकारी पर्याय तो, काल की अनित्य पर्याय होते हुए भी, स्वभाव के अनुकूल नहीं परिणमकर विपरीत परिणमती है। दूसरी पर्याय निर्मल होते हुए भी, अनित्य स्वभावी होने से उसका भी भेद पड़ा और तीसरे त्रिकाली द्रव्य में त्रिकाल रहने वाले गुण हैं परन्तु द्रव्य तो गुणों का अखण्ड पिण्ड एक है, उसमें गुणों के भेद करने से अनेकता रूपी भेद पड़ता है। इस प्रकार आत्म प्रदेशों में ही रहने वाले विषयों के भी अनेक प्रकार पड़ जाते हैं।

लेकिन ज्ञायक में तो इन सबका ही अभाव है। ज्ञायक तो ज्ञानआनन्द का अभेद अखण्ड पिण्ड, सर्वज्ञ स्वभावी भगवान है। उसमें अपनत्व होते ही उसके आश्रय से जो परिणमन होता है, उसमें तो मिथ्यात्व रूपी विकृति उत्पन्न नहीं होती। विकार तो संयोगीभाव है, आत्मा परज्ञेयों को अपना मानकर उनके साथ संयोग करे तो मिथ्यात्व संबंधी संयोगीभाव उत्पन्न हों; लेकिन जब जानने की प्रक्रिया की यथार्थ श्रद्धा के कारण, आत्मा परज्ञेय में अपनत्व ही नही करेगा तो तत्संबंधी संयोगी भाव भी नहीं होगा। **इस प्रकार त्रिकाली ज्ञायक सर्वज्ञ स्वभावी ध्रुवद्रव्य में एकत्व (अपनत्व) करने से सभी संबंधों का अभाव हो जाता है।** समयसार गाथा-31 में भी द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ इन सभी को एक समान परज्ञेय कहा है; क्योंकि इन तीनों में, ज्ञान, इन्द्रियाधीन होकर वर्तता है। और एक चिन्मात्र ज्योति ज्ञायक में एकत्व होते ही इन तीनों का अभाव एक साथ हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान के जानने का स्वरूप ही ऐसा है कि असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र में रहते हुए, ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा बिना अपनी ज्ञान क्रिया के माध्यम से स्व-पर को जानता है। क्योंकि ज्ञान की पर्याय तो एक ही है। स्व को जानने वाली पर्याय अलग हो और पर को जानने वाली अलग हो, ऐसा नहीं है। ज्ञेय तो स्व (ज्ञायक) और पर (ज्ञेय) दोनों होते हैं। इन दोनों में से अपनापन (अपनत्व बुद्धि) जिसमें होती है, ज्ञान उस ओर सहजरूप से झुक जाता हैं; फलतः उसी का ज्ञान होता हुआ अनुभव में आता है। अपनापन तो श्रद्धा गुण का कार्य है। और ज्ञानी का अपनापन त्रिकाली ज्ञायक में होता है इसलिये उसका ज्ञान सहज ही उसकी ओर झुक जाता है।

फलतः अभेद अखण्ड ऐसे स्वद्रव्य में एकत्व कर लेता है

और द्रव्य में बसे अनाकुल आनन्द आदि अनन्तगुणों का अभेद रसास्वादन कर कृतकृत्य हो जाता है। इसके विपरीत अज्ञानी की श्रद्धा विपरीत होने के कारण, परज्ञेयों में अपनापन होने से, उसका ज्ञान पर की ओर झुका रहता है। फलतः उनमें एकत्व कर, उनको अपने अनुकूल परिणमाने की चेष्टा करता है एवं असफल होने से निरन्तर दुखी रहता है।

सारांश यह है कि उपर्युक्त जाननक्रिया का स्वरूप, यथार्थ प्रकार से समझकर, तद्रूप श्रद्धा जाग्रत हो जाने से, ज्ञेय पदार्थों को जानने का आकर्षण रुचि टूटकर, ज्ञायक में एकत्व का उत्साह जाग्रत हो जाता है। फलस्वरूप ज्ञायक में अपनेपने की रुचि जाग्रत होकर, ज्ञान का ज्ञायक की ओर का झुकाव प्रारंभ हो जाता है।

दूसरी ओर परज्ञेयों के परिणमन भी ज्ञान में ज्ञात तो होंगे; क्योंकि ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। परज्ञेयों में, समस्त प्रकार के परद्रव्य, शरीरादि नोकर्म, द्रव्यकर्म, वाणीरूपी पुद्गल तथा मनगत विचार और समस्त प्रकार के भावकर्म आदि सम्मिलित है। उक्त ज्ञेयों में से प्रतिसमय कोई प्रकार का ज्ञेय तो ज्ञात होता ही है। उस समय जिस आत्मार्थी को ज्ञायक मैं अपनत्व के साथ जानने की प्रक्रिया की यथार्थता श्रद्धा में जाग्रत रहेगी तो, वह विचलित नहीं होगा; और उसको उनके परिणमनों के कर्ता तो तद्तद् ज्ञेय ही लगेंगे, आत्मा नहीं। आत्मा तो अपनी ज्ञान क्रिया का कर्ता भासित होगा, ज्ञेयों के परिणमन का नहीं। उक्त ज्ञेयों में अपनी भावकर्म रूपी पर्याय भी सम्मिलित है; उक्त भावकर्मरूपी परिणमन की कर्ता तो पाँच समवाययुक्त तत्समयवर्ती पर्याय को योग्यता है, निमित्त की प्रधानता से द्रव्यकर्म को भी कर्ता कहा जाता है। आत्मा तो मात्र ज्ञान क्रिया

का उत्पादक है, वह उसकी स्वाभाविक क्रिया है। उसको ऐसा प्रतिभासित नहीं होता, कि भावकर्म रूपी पर्याय का कर्ता आत्मा है। ज्ञायक तो मात्र ज्ञायक ही है।

आत्मार्थी को समयसार गाथा-3 एवं पूर्व प्रकरणों के अध्ययन के माध्यम से उक्त ज्ञेयों के संबंध में ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाती है कि प्रत्येक द्रव्य (उसमें अपना आत्मद्रव्य भी सम्मिलित है) का प्रत्येक परिणमन स्वतंत्र है, वह पाँच समवाययुक्त अपनी प्रतिसमय की योग्यतानुसार, अन्य द्रव्य के परिणमन की अपेक्षा रखे बिना, अपने-अपने काल में, क्रमबद्ध परिणमता रहता है, किसी के जानने से अथवा नहीं जानने से, उसके परिणमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई द्रव्य अन्य द्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता तो किसी के परिणमन में हस्तक्षेप तो कर ही कैसे सकेगा ? नहीं कर सकता। इस प्रकार की श्रद्धा जिसको जाग्रत रहती है, ऐसे आत्मार्थी **का श्रद्धान अपने आत्मा में ही संवृत रहता है, श्रद्धा विचलित नहीं होती।**

इतना होने पर भी जबतक निर्विकल्प आत्मानुभूति नहीं हो जाती तब तक, सहज दशा प्रगट नहीं होती अर्थात् श्रद्धा का सहज रूप से वर्तने वाला परिणमन प्रारंभ नहीं होता। तब तक आत्मार्थी को पर में अपनत्व एवं अनन्तानुबंधी रागजन्यकर्तृत्वबुद्धि रहती है, तब तक तत्सम्बन्धी **विकल्प भी उत्पन्न होते है; उस समय आत्मार्थी को सावधान रहना चाहिये, विचलित होकर, तज्जन्य विकल्पों के अभाव करने के प्रयास में नहीं उलझना चाहिये; क्योंकि ऐसी प्रक्रिया में, ज्ञायक में अपनत्व की दृष्टि छूटकर, पर्याय का अपनत्व आ जाता है। इसलिये** उस समय रुचि के पृष्टबल सहित, सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञायक के आश्रय पूर्वक, ज्ञायक में अहंपने की श्रद्धा जाग्रत करना चाहिये। क्योंकि ज्ञायक तो सर्वज्ञ के

समान त्रिकाली ज्ञायक है। जब सर्वज्ञ के ज्ञान में उन ज्ञेयों का परिणमन, उनकी योग्यतानुसार क्रमबद्ध होता हुआ ज्ञात होता है, तो मैं भी तो सर्वज्ञ स्वभावी हूँ; मेरा स्वभाव भी उनके समान ही जानने का है। इसलिये ज्ञेयों का परिणमन जिस प्रकार का होना था उस ही प्रकार का हो रहा है और होता रहेगा और वैसी ही उनकी पाँच समवाययुक्त योग्यता थी; लेकिन मैं तो ज्ञायक हूँ। **इस प्रकार की ज्ञायक की श्रद्धा के बल से, रुचि के पृष्टबलपूर्वक, ज्ञेयों की ओर से परिणति सिमटकर, ज्ञायक के सन्मुख होकर, ज्ञायक में अपनत्व कर लेती है। और साथ ही सहजरूप से मिथ्यात्व आदिभाव भी उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार सहज ही भावकर्म के अभाव की श्रृंखला भी प्रारंभ हो जाती है।**

इस प्रकार की यथार्थ समझ से, परज्ञेयों में अपनत्व नहीं होता।

आत्मद्रव्य चिन्मात्र ज्योति है

उक्त चर्चा से स्पष्ट है कि जो आत्मा का स्व-पर प्रकाशक ज्ञान है, उस ही के नाम द्रव्यार्थिकनय एवं पर्यायार्थिकनय हैं। वह ज्ञान ही जब अभेद अखण्ड अद्वैत द्रव्य को जानता है, उस समय के उस ज्ञान को द्रव्यार्थिक तथा जिस समय वही ज्ञान उक्त अद्वैत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी को भी जाने, उस समय के उस ज्ञान को पर्यायार्थिक कहा गया है। **इस प्रकार स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान की ही दो चक्षु है, उनही का नाम नय ज्ञान है। कोई अलग प्रकार का ज्ञान, नयज्ञान नहीं होता। छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग, एक समय एक ओर ही झुक पाता है और ज्ञान उसी में एकाग्र होता है; उस समय दूसरी नय के विषय, ज्ञान में रहते हुए भी गौण रह जाते हैं, करने नहीं**

पड़ते। इतना अवश्य है कि गौण विषय, एकाग्र होने में बाधक नहीं होते अर्थात् द्वैत उत्पन्न नहीं करते।

उक्त ज्ञान पर्याय ही स्वसम्बन्धी ज्ञेयाकार एवं पर सम्बन्धी ज्ञेयाकारों रूप परिणमती है। **अतः आत्मार्थी अपने अभिप्राय के अनुसार उक्त समस्त ज्ञेयाकारों में से, जिनको 'अहं' योग्य मानता है, वह उसी ज्ञान पर्याय को द्रव्यार्थिक कर लेता है, उस समय अन्य ज्ञेय पर्यायार्थिक रह जाते हैं।** लेकिन जब भेदज्ञान प्रणाली अपनाकर, ज्ञायक को अहं करने के लिये मुख्य करता है तो उसी ज्ञान का नाम निश्चयनय हो जाता है, बाकी रहे विषयों में उपादेयबुद्धि नहीं रहने से वे व्यवहारनय के विषय रह जाते हैं। **इस प्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक में तो निर्णय की मुख्यता रहती है और निश्चय-व्यवहार में प्रयोजन सिद्ध करने की मुख्यता रहती है।**

उक्त चर्चा से फलित होता है कि सर्वप्रथम आत्मार्थी का अभिप्राय यथार्थ होना चाहिये। अभिप्राय की यथार्थता के लिये निर्णय यथार्थ होना चाहिये। अतः तत्त्व अर्थात् स्वरूप के निर्णय की यथार्थता का महत्त्व सर्वोपरि मूल्यवान् सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा पूर्व प्रकरणों में की जा चुकी है। इस प्रकरण में तो **चर्चा मुख्यता से उस ही आत्मार्थी के लिए की जा रही है, जिसने उक्त अभेद-अखण्ड अद्वैत ज्ञायक द्रव्य रूप अपने अस्तित्व का निर्णयकर लिया हो और अब उसमें अपनेपने की श्रद्धापूर्वक अपनी परिणति को एकाग्रकर निर्विकल्पना पूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पुरुषार्थ में संलग्न हो।**

ऐसा आत्मार्थी जब **अन्तर्मुखी पुरुषार्थ करता है तो अपना स्वरूप तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेदों से रहित, सामान्य-**

अभेद-नित्य और एक रूप द्रव्य, जो गाथा 14 के पाँचों भावों से तथा 49 के सात बोलों एवं गाथा 50 से 55 तक के 29 भावों से रहित, एक चैतन्यमात्र भाव है, ऐसा निर्णय में लेकर उसी में अपनत्व का प्रयास करता है। उपर्युक्त बोलों में, पुद्गलादि अन्य द्रव्यों से सम्बन्धित व द्रव्यकर्मों व देह, मन, वाणी से सम्बन्धित कार्य एवं सभी प्रकार के भावकर्म समाहित हो जाते हैं। अपने को चैतन्य मात्र मानने से, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तथा स्व-पर आदि सभी प्रकार के भेद भी निरस्त होकर, एक चिन्मात्र भाव ही रह जाता है, **ऐसा चिन्मात्र भाव ही अनादि-अनन्त धाराप्रवाहरूप से वर्तने वाला त्रिकालीध्रुवज्ञायक है वही गाथा 6 का नित्यउद्योतरूप स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति ऐसा ज्ञायक है और वही शुद्धनय का विषयभूत, स्वज्ञेय है, वही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय एवं परमशुद्ध निश्चयनय का विषय है और वही अपनत्व करने योग्य है।**

दूसरी ओर ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक होने से ज्ञान में, पर्यायार्थिक नय के विषयों का ज्ञान भी वर्तता है। उन विषयों में वे सभी विषय गर्भित है, जिनकी उक्त ज्ञायक में नास्ति वर्तती है, फिर भी उनका ज्ञान में सद्भाव वर्तता है। **उनकी जाति एवं संख्या अनन्तानंत होते हुए भी वे सब सिमटकर ज्ञान के लिये तो एक पर्यायार्थिक नय के विषय में समाहित हो जाते हैं।** इसका तात्पर्य ऐसा नहीं समझना कि परप्रकाशक ज्ञान, अनन्तान्त ज्ञेयों को एक साथ जानने के विस्तार वाला हो जाता है अपितु ज्ञान का विषय तो मात्र एक 'ही' होता है; अनन्त परज्ञेयों में से कोई भी ज्ञेय हो, उस समय वही विषय हो जाता है और वही पर्यायार्थिकनय का विषय होता है। **तात्पर्य यह है कि स्व में जिसका अभाव हो फिर भी वह ज्ञान में ज्ञात होता हो, वही पर्यायार्थिकनय का विषय रह जाता है।** आत्मार्थी

को श्रद्धा होती है कि जिनका भी ज्ञायक में सद्भाव नहीं है, चाहे वह कोई द्रव्य हो, गुण हो, पर्याय हो वे सभी पर्यायार्थिकनय के विषय होने से, उनका मेरे में अभाव है। **फलतः मैं तो एक चिन्मात्र ज्याति हूँ। मेरे में तो द्वैत का ही अभाव है।**

इसके अतिरिक्त ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक पर्याय तो एक ही होती है। उसमें स्व को जानने का अलग तथा पर को जानने का अलग ऐसे दो विभाग नहीं होते। तथा जानने में क्रम भी नहीं पड़ता; वह पर्याय एक ही समय, स्वमुखापेक्षी क्षायिक भावरूप परिणमन करने पर, अपने अन्दर बसने वाले अनन्तगुणों के आकार रूप परिणम जाती है अर्थात् उस पर्याय में अनन्तगुण उछलने लगते हैं ज्ञात होने लगते हैं। और वही पर्याय अनन्त परज्ञेयों के आकार रूप परिणम जाती है अर्थात् उसी में परज्ञेय उछलने लगते हैं – ज्ञात होने लगते है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की वह एक समयवर्ती पर्याय, स्व-पर के भेद करे बिना अर्थात् विकल्प करे बिना, एक साथ सबको जान लेती है। अर्थात् उस समय की उस पर्याय ने बिना विकल्प करे स्व-पर सबको एक साथ जान लिया; ज्ञानगुण और ज्ञायक का तादात्म्य होने से पर्याय भी उसमें तादात्म्य हो जाती है। और आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। इस प्रकार पर में अपनापना छूटने से क्रमशः ज्ञान का परलक्ष्यीपना भी छूट जाता है अर्थात् इन्द्रियों का माध्यम छूट जाता है। और स्व (ज्ञायक) में अपनापना हो जाने से ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर अतीन्द्रियता को प्राप्त कर लेता है; उस ज्ञान पर्याय में स्व-पर ज्ञेयों के आकार एक साथ प्रकाशित हो जाते हैं। आत्मा बिना परिणमन के तो रहता नहीं; फलतः प्रत्येक पर्याय में भी ज्ञानी आत्मा तो ज्ञायक ही रहता है। उसके स्वज्ञेय में तो सम्पूर्ण आत्मा समा गया, उसमें ज्ञान की पर्याय भी समा जाती है, जिसमें परज्ञेयों का ज्ञान भी रहता

है। और वह अपने को ज्ञायक ही मानता है, फलतः कर्तृत्व का अवकाश ही नहीं रहता। ज्ञायक में तो स्व-पर का भेद भी नहीं रहता। ज्ञायक कहने से भी एक ज्ञान की अपेक्षा आती है, जबकि ज्ञान-दर्शन सहित होता है; सामान्य के बिना विशेष होता नहीं, इसलिये वास्तव में, में तो एक चिन्मात्र ज्योति हूँ – स्व-पर का ज्ञायक नहीं मात्र स्व-पर का प्रकाशक होने से स्वयं प्रकाशमान ऐसी चिन्मात्र ज्योति हूँ। उसमें परिणति एकाग्र होते ही अनाकुल आनन्द के अंश की प्रगटता हो जाती है, आत्मानुभूति हो जाती है।

उक्त दशा प्राप्त आत्मार्थी की रुचि बहुत उग्र हो जाती है। उसको ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाती है कि मेरा अस्तित्व तो सिद्ध समान है। मेरा ज्ञायक भी, सिद्ध भगवान के द्रव्य के समान सदैव ध्रुव वर्तता है; **मेरे में द्वैत का ही अभाव है तो विकार तो मेरे में है ही नहीं। समयसार गाथा 181 से 183 की टीका के अनुसार, अशुद्धि के प्रदेश भिन्न होने से, उसकी सत्ता भी मेरे से भिन्न है।** उक्त टीका निम्न प्रकार है –

"वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं इसलिये उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधार आधेय सम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिये (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहने रूप) ही आधार-आधेय सम्बन्ध है।

इसलिए ज्ञान जो कि जानन क्रिया रूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, जानन क्रिया का ज्ञान से (ज्ञायक से)

अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है; क्रोधादि क्रिया का क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण, क्रोधादिक में ही है।'' अतः मेरे ज्ञायक में अशुद्धि का अस्तित्व हैं ही नहीं।

पू. श्री कानजी स्वामी ने उक्त विषय को उनके उक्त टीका के प्रवचनों एवं कलश टीका के ता. 8-1-78 को कलश 181 के प्रवचन में विशेष स्पष्टीकरण के साथ दोनों की प्रदेश भिन्नता सिद्ध की है। इसका समर्थन ''कारण शुद्ध पर्याय'' के विवेचन से भी होता है, जो आगे के प्रकरण में आवेगा।

फिर भी किसी अपेक्षा मान भी लिया जावे तो, **परिणमन तो उक्त अखण्ड द्रव्य का होता है और द्रव्य तो परिपूर्ण एवं शुद्ध होने से उसका परिणमन भी द्रव्य में से तो शुद्ध ही उठता है, पूरा परिणमन अशुद्ध नहीं हो जाता।** जो पर्याय व्यक्त होती है उसके देखने वाले को वह अशुद्धि ही दिखती है; लेकिन द्रव्य को देखने वाले को तो समग्रद्रंव्य शुद्ध दिखता है, पर्याय की अशुद्धि दिखती नहीं। द्रव्यार्थिकनय के विषय में, जो परिणमन अभेद-अखण्ड द्रव्य में से अव्यक्त रहते हुए उठता है, वह परिणमन व्यक्त होने के पूर्व, द्रव्य के समान अभेद अखण्ड और शुद्ध ही रहता है और वह उसमें ही अर्न्तगर्मित रहता है। उसी को नियमसार गाथा-15 के अनुसार ''कारणशुद्धपर्याय'' कहकर द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है अर्थात् कारणशुद्धपर्याय भी द्रव्य के समान सामान्य-अभेद-नित्य एवं एक रूप होने से द्रव्य में ही समाहित रहती है।

इस विषय का विस्तार से स्पष्टीकरण, पू. श्री कानजीस्वामी ने अपने प्रवचनों में किया है, जिनका प्रकाशन पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा ''कारणशुद्धपर्याय'' नाम से हो चुका है; उसका अध्ययन अत्यन्त प्रयोजनभूत है।

कारण शुद्ध पर्याय क्या है ?

वास्तविक स्थिति यह है कि समग्र आत्मद्रव्य, अखण्ड-अभेद-एक इकाई के रूप में है; उसमें ध्रुव और पर्याय ऐसे दो भेद नहीं हैं। उसकी सत्ता अक्षुण्ण अनादि-अनन्त एक इकाई के रूप में रहती है। लेकिन वह इकाई समुद्र की भाँति प्रतिसमय दो रूप में दिखाई देती है। जैसे योजनों गहरा अगाध पानी धारक समुद्र, अक्षुमित समुद्र के रूप में रहते हुए भी, प्रतिसमय लहरों से क्षुभित भी रहता है और ऐसा दिखाई भी देता है। अक्षुभित समुद्र एवं लहरों की सत्ता एक ही है और एक इकाई के रूप में ही रहती है। उसी प्रकार अनन्त सामर्थ्यों का अभेद-अखण्ड पिण्ड ऐसा आत्मद्रव्य एक इकाई के रूप में अनादि-अनन्त रहते हुए भी, उसके एक साथ दो रूप रहते हैं और अनुभव में भी आते हैं। एक तो अक्षुभित समुद्र की भाँति अपरिणमित रहता हुआ 'ध्रुवस्वरूप' और दूसरा क्षुभित समुद्र जो लहरों के रूप में दिखाई देता है ऐसा 'परिणमित द्रव्य', जो व्यक्त अर्थात् प्रगट पर्याय के रूप में ज्ञात होता है। जिस प्रकार **अखण्ड एक समुद्र के ही दो रूप हैं, उसी प्रकार अखण्ड अभेद समग्र आत्मा के भी दो रूप हैं; एक तो अपरिणामी ध्रुव रूप रहने वाला द्रव्य रूप आत्मा, जो अव्यक्त रहता है और दूसरा परिणमने वाला व्यक्त होने वाला पर्यायरूप आत्मा। दोनों रूपों में समग्र आत्मा ही रहता है। ध्रुव से अलग रहती हुई पर्याय परिणमती हो, ऐसा नहीं है अपितु समुद्र की भाँति अपरिणामी समग्र आत्मा ही ध्रुव है एवं परिणामी समग्र आत्मा ही पर्याय है।**

उक्त समुद्र की लहर जो दिखती है, वह ऐसी लगती है कि समुद्र के ऊपर-ऊपर ही बन जाती हो, लेकिन ऐसा नहीं है। लहर

तो समुद्र की गहराई से उठती है, जो लहर दिखाई देती है वह तो लहर का मात्र ऊपरी भाग है, पूरी लहर नहीं। इसलिए ही तो बोला जाता है कि समुद्र क्षुभित हो रहा है अर्थात् समुद्र उछल रहा है इस समय समुद्र में प्रवेश करने से समुद्र डुबा ले जावेगा। तात्पर्य यह है कि 100 किलोमीटर गहरे समुद्र में, 100 किलोमीटर नीचे से ही लहर का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है, जो दिखाई देता है वह तो मात्र ऊपर दिखनेवाला चौथाई किलोमीटर उछलता हुआ समुद्र है, हम उसको ही लहर मानते हैं और कहते हैं। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि 100 किलोमीटर नीचे से उठने वाली लहर ही लहर है, हमको जो दिखाई दी है, वह तो मात्र चौथाई किलोमीटर की लहर है। **इसी प्रकार आत्मद्रव्य का जो परिणमन प्रारम्भ होता है वह तो आत्मा के अन्तस्तल अर्थात् असंख्यात प्रदेशी समग्र आत्मद्रव्य से ही प्रारम्भ होता है, हमको जो अनुभव में आता है वह तो, मात्र ऊपर-ऊपर व्यक्त होने वाला एक समयवर्ती अंश है।** उसी को हम परिणमन अर्थात् पर्याय मानते व कहते है। **लेकिन परिणमन का जो अव्यक्त अंश है, वह तो अपरिणामी ध्रुव में ही अन्तर्गभित रहता है। उसमें परिणाम और अपरिणामी का भेद करना सम्भव नहीं है।**

जैसे समुद्र की 100 किलोमीटर नीचे से उठने वाली लहर नहीं दिखने तक तो लहर होते हुए भी समुद्र है और समुद्र होते हुए भी लहर है; भेद नहीं किया जा सकता। **उसी प्रकार आत्मद्रव्य के अन्तस्तल से उठा हुआ परिणमन, व्यक्त पर्याय के पूर्व, पर्याय होते हुए भी द्रव्य है और द्रव्य होते हुए भी पर्याय है। तात्पर्य यह है कि वह पर्याय परिणमन होते हुए भी अपरिणामी द्रव्य ही है; इसलिये वह द्रव्यार्थिकनय के विषय में ही अभेदरूप से रहती है, पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है। इसी कारण**

उसको कारणशुद्धपर्याय कहा है। व्यक्त पर्याय को ही पर्याय की संज्ञा है। इस प्रकार शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय में परिणमन का अव्यक्त अंश जिसको नियमसार में 'कारणशुद्धपर्याय' कहा है, वह सम्मिलित रहता है अर्थात् अपरिणामी ज्ञायक ध्रुव में, परिणामी पर्याय का अव्यक्त अंश ऐसी कारणशुद्धपर्याय सम्मिलित है।

इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक एवं परमशुद्ध निश्चयनय का विषय तो, व्यक्त होने वाली पर्याय को छोड़कर अर्थात् गौणकर, अरहंत भगवान की व्यक्त आत्मा जैसा, समग्र आत्मा है। और पर्यायार्थिकनय का विषय तो मात्र एक समयवर्ती व्यक्त अंश रह जाता है, जो समग्र द्रव्य की अपेक्षा अनन्तवाँ अंश भी नहीं है। पर्यायदृष्टि अज्ञानी जीव, अपने आत्मा को व्यक्त पर्याय जैसा मानकर, आत्मा का अत्यन्त अहित कर अनन्त संसार बढ़ाता है। इसके विपरीत ज्ञानी अपने आत्मा को शुद्धनय की दृष्टि से देखता है तो, उसको तो आत्मा सिद्ध सदृश्य दिखता है; व्यक्त पर्याय सहज ही गौण रह जाती है और एक चिन्मात्र ज्ञायक ही दृष्टि का विषय रह जाता है। इस प्रकार ज्ञानी द्रव्यदृष्टि के विषय में अपनत्व कर लेता है। फलतः उसकी श्रद्धा-प्रतीति में वह अव्यक्त आत्मा ऐसा ज्ञायक, सदैव व्यक्त रहता है – जाग्रत रहता है।

उक्त प्रकार की वास्तविकता को दृष्टिगत रखते हुए, उक्त समुद्र के दृष्टान्त के माध्यम से, व्यक्त पर्याय की स्थिति को समझें तो, जिस प्रकार समुद्र की गंदगी अर्थात् अशुद्धताओं का प्रकाशन समुद्र की दिखने वाली लहर में होता है, और वह गंदगी उछलकर लहर में मिश्र होकर ऊपर आ जाती है उससे समुद्र गंदा दिखने लगता है। वास्तव में तो वह गंदगी समुद्र का अंश भी नहीं होता, वह तो अशुद्ध पदार्थों के पानी के साथ संयोग हो जाने से दोनों की मिश्र ऐसी

संयोगी पर्याय अर्थात् अशुद्ध पानी है जो लहर के रूप में व्यक्त हो रहा है। उससे विज्ञजन तो समुद्र को गंदा नहीं मान लेते। इसी विषय का समर्थन समयसार गाथा 181 से 183 की टीका से भी होता है, जिसमें आत्मा के प्रदेशों से विकार के प्रदेशों की भिन्नता सिद्ध की है। तात्पर्य इतना ही है कि आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में ही, विकार तो मात्र उन प्रदेशों के ऊपर-ऊपर ही (व्यक्त पर्याय की गन्दगी के समान) तैरता अर्थात रहता है, आत्मा में प्रवेश नहीं करता अर्थात् असंख्य प्रदेशी आत्मा विकारी नहीं हो जाता। इस प्रकार ज्ञानी विकार का अस्तित्व अपने में नहीं मानता। कथन का तात्पर्य आत्मा में दो प्रकार के प्रदेश बताना नहीं है। द्रव्यदृष्टि में समग्र आत्मा सिद्ध समान शुद्ध एवं परिपूर्ण दिखता है अर्थात् श्रद्धा में आता है।

आत्मद्रव्य का परिणमन जो पर्याय के रूप में व्यक्त होता है, **उस परिणमन में अज्ञानी जीव, पर (ज्ञायक के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय) में अपनत्व करता है तो वह, अपनी मान्यता में उसका संयोग कर लेता है फलतः मिथ्यात्वरूपी संयोगी भाव रूपी गंदगी उसके प्रतिसमय के परिणमन में उत्पन्न होती रहती है। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्त परिणमन अर्थात् पर्याय विकारी अनुभव में आती है** और अज्ञानी आत्मा को ही विकारी मानकर, अनन्त शक्तिशाली सिद्ध समान आत्मा को दीनहीन मानकर संसार परिभ्रमण करता रहता है।

प्रश्न – संयोग किस प्रकार हो जाता है ?

उत्तर – परिणमन तो समग्र द्रव्य का होता है और द्रव्य अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है अतः उसका परिणमन भी अनन्त गुणों का परिणमन होता है, उक्त परिणमन में श्रद्धा एवं ज्ञान गुण के परिणमन भी होते हैं। **अज्ञानी की श्रृंखलाबद्ध विपरीत श्रद्धा होने**

से, पर में अपनेपन की श्रद्धा चलती आ रही होती है। ऐसी स्थिति में तत्समय का ज्ञान भी परमुखापेक्षी परिणमता अर्थात् उत्पन्न होता है, फलतः अज्ञानी को विपरीत श्रद्धा के कारण सहजरूप से पर में अपनापन हो जाता है और तत्समय चारित्र की भी विपरीतता वर्तने से, अज्ञानी अपने आप में पर को अपना मानने रूप संयोग कर लेता है।

लेकिन उक्त व्यक्त पर्याय में अपनत्व की श्रृंखला तोड़ने का उपाय असंभव नहीं है अपितु अत्यन्त सरल है। उपर्युक्त समस्त वास्तविकताओं को समझकर सिद्ध सदृश्य शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ज्ञायक रूप अपना अस्तित्व मानते हुए, पर्याय की तुच्छता की श्रद्धा पूर्वक, **अपनी परिणति को ज्ञायक की ओर अभिमुख करते ही, सहजरूप से व्यक्त पर्याय में अशुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी। इस प्रकार संयोग ही नहीं होगा तो संयोगी भाव भी उत्पन्न नहीं होगा।** इस प्रकार मिथ्यात्व की श्रृंखला टूटकर, मोक्षमार्ग की श्रृंखला प्रारम्भ हो जावेगी। **इस प्रकार मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होना अत्यन्त सरल भी है।**

पर्याय व्यक्त रहती है और द्रव्य-ज्ञायक अव्यक्त रहता है; इसका समर्थन समयसार की गाथा-49 के अव्यक्त सिद्ध करने वाले छठवें बोल से भी होता है। कि "**स्वयं अपने से ही बाह्यांतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है तथापि व्यक्तता के प्रति (गौण रह जाने से) उदासीन रूप से प्रकाशमान है इसलिये अव्यक्त है।**" इस प्रकार मेरा आत्मा तो द्रव्य-गुण-पर्याय (कारणपर्याय) से सिद्ध के समान, वर्तमान में ही पूर्ण शुद्ध ज्ञायक है। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होती है।

इस पर भी अगर व्यवहारनय से अशुद्धि का विचार करें तो

वह अशुद्धि तो तत्समय की पर्याय के भी, ऊपर-ऊपर रहती है, द्रव्य में प्रवेश नहीं करती; और स्वयं व्यय को भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अगाध समुद्र ऐसे द्रव्य के भी ऊपर-ऊपर वर्तने वाली एक समयवर्ती पर्याय का क्या महत्त्व है; लवणसमुद्र में एक बूँद तेल के समान है। इसलिये 'मैं' द्रव्य तो अनादि अनन्त सिद्ध हूँ, ऊपर तैरने वाली पर्याय का अस्तित्व है तो पर्याय में है ऐसी मेरी श्रद्धा है और ऐसा ही मेरा ज्ञान भी जानता है, साथ ही ज्ञान यह भी जानता है कि उसके नाश का पुरुषार्थ भी स्वरूप स्थिरता ही है। इस प्रकार का मुझे ज्ञान-श्रद्धान वर्तता है।

श्रद्धा का जन्म निर्णय से होता है

सम्यक् श्रद्धा का जन्म, न तो विकल्प विचारों से होता है और न ज्ञान में ज्ञेय परिवर्तन से होता है; वरन् आगमाश्रित यथार्थ निर्णय से होता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है – ''तत्व निर्णय (आत्मा के स्वरूप का निर्णय) ही मोक्षमार्ग का यथार्थ पुरुषार्थ है।'' तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) का यथार्थ पुरुषार्थ सम्यक् निर्णय ही है।

प्रश्न – निर्णय करने के लिये भी, विचार तो करने ही पड़ेंगे ?

उत्तर – संज्ञी जीव कभी विकल्प और विचारों के बिना नहीं रहता तथा राग के सद्भाव में, ज्ञेय परिवर्तन हुवे बिना भी नहीं रहते। लेकिन अन्तर तो होता है, विकल्पों के ध्येय, उद्देश्य एवं दृष्टिकोण में। बहुभाग जीवों के विकल्प सामान्यतया उद्देश्य रहित होते हैं और रोकने पर भी नहीं रुकते। इस प्रकार संज्ञी को विकल्पों का अभाव तो हो नहीं सकता। परन्तु **आत्मस्वरूप का**

निर्णय करने में जो विकल्प होते हैं, उनका तो ध्येय भी होता है और उद्देश्य भी होता है तथा उक्त विकल्प सहज होते हैं, किये नहीं जाते; फलतः वे सार्थक भी होते हैं। आत्म स्वरूप के निर्णय करने सम्बन्धी विकल्पों का निषेध करने पर तो, उनके स्थान पर अन्य अशुभ विकल्प उठने लग जावेंगे; विकल्प होना नहीं रुकेगा। इसलिये सहज उठने वाले आत्मस्वरूप के निर्णय करने के विकल्पों से घबड़ाकर, निर्णय करने की प्रक्रिया का ही तो तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

इसलिये आत्मार्थी को प्रथम तो उद्देश्य निश्चित करना चाहिये। आत्मार्थी का उद्देश्य तो एक ही होता है कि अपनी परिणति में वीतरागता उत्पन्न होना। **भगवान जब वीतरागी हैं तो भगवान बनने का मार्ग भी वीतरागता उत्पादक ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता।** इसलिये मोक्षमार्ग प्रगट करने की प्रत्येक प्रक्रिया अर्थात् पुरुषार्थ का फल, परिणति में वीतरागता का पोषण होना चाहिये, शुभराग का पोषण नहीं। अतः परिणति में वीतरागता प्रगट होना ही, पुरुषार्थ की यथार्थता की कसौटी अर्थात् **परीक्षा का मापदण्ड है। आत्मार्थी को प्रत्येक क्रिया में अपने विवेक को जाग्रत रखना पड़ेगा।** जिसको अन्तर में संसार भ्रमण के अभाव की तीव्र रुचि जाग्रत हुई होगी, वही विवेक को जाग्रत रख सकेगा। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 257 पर कहा है कि "अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है; तथा यहाँ मुझे सर्वनिमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिये।"

उक्त वीतरागता का उत्पादन सम्यग्दर्शन के उत्पादन

से प्रारंभ होता है। सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ श्रद्धान से होता है, यथा ''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।'' अर्थात् आत्मतत्त्व का एवं उसके भावों का यथार्थ श्रद्धान करना वह तत्त्वार्थ श्रद्धान है, और उसका उपाय है ''प्रमाणनयैरणिगमः'' अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा भेद-प्रभेद करके आत्मतत्त्व तथा उनके भावों (परिणमनों) को समझकर निर्णय करना। तात्पर्य यह है कि भेद-प्रभेद द्वारा निर्णय करने पर ही सम्यक् श्रद्धा का जन्म होता है। इस प्रकार आत्मार्थी का उद्देश्य सम्यग्श्रद्धा प्रगट करने का हो जाता है, और सम्यक् श्रद्धा का जन्म होता है यथार्थ निर्णय से। **इस प्रकार आत्मार्थी का उद्देश्य सम्यक् श्रद्धा प्रगट करने के लिये यथार्थ निर्णय करने का हो जाता है।** इस प्रकार आत्मार्थी की प्रत्येक क्रिया अर्थात् पुरुषार्थ का उद्देश्य, यथार्थ निर्णय करने का हो जाता है।

इसलिये आत्मार्थी का ध्येय तो हो जाता है ज्ञायक में अपनत्व करने का और उद्देश्य हो जाता है। परिणति में वीतरागता का उत्पादन तथा इनकी सफलता के लिये यथार्थ मार्ग का आगमाश्रित निर्णय करना।

निर्णय होता है दो पक्षों को सामने रखकर। इसलिये ऐसे निर्णय करने में विकल्प होना तो सहज स्वभाविक है। परन्तु ऐसे विकल्प सार्थक होते हैं तथा करने नहीं पड़ते, सहज होते हैं और वे कषाय मंदता में होने से शुभजाति के होते हैं। **निर्विकल्पता के लोभ से ऐसे विकल्पों के भी निषेध करने से, निर्विकल्पता तो होगी नहीं प्रत्युत संसार संबंधी अथवा अन्य अशुभ विकल्पों में जीवन समाप्त हो जावेगा।** इसलिये उद्देश्य विहीन निरर्थक के विकल्पों से बचकर, आत्मस्वरूप के निर्णय करने का पुरुषार्थ अवश्य करना

चाहिये। ऐसे विकल्पों का तो जिनवाणी में भी निषेध नहीं है अपितु विधान है। लेकिन जब आत्मा का अनुभव होता है, तब विकल्प स्वतः ही अस्त हो जाते है; इसलिसे आत्मानुभव में बाधक नहीं होते। इसलिये स्वरूप निर्णय में बाधक विकल्पों का तो जिनवाणी में भी निषेध है। **जो आत्मार्थी आत्मास्वरूप का निर्णय तो करते नहीं और घंटों तक एकान्त में बैठकर विकल्प एवं विचार करते रहते हैं, उनके ऐसे विकल्प सार्थक नहीं होते, इसलिये ऐसे विकल्पों का निषेध करके, उनको सत्यार्थ मार्ग पर लगाया जाता है।**

इसलिये आत्मार्थी अपने आत्मस्वरूप के निर्णय करने के लिये विकल्प भी करता है, विचार भी करता है; और उनके द्वारा अनेक प्रकार के कथनों में से यथार्थ मार्ग को समझकर, विचार कर परीक्षा करके छाँटता है अर्थात् आत्मा के स्वरूप को बताने वाली अनेक मान्यताओं में से, सत्यार्थ मान्यता को परीक्षा करके छाँट लेता है। परीक्षा करने की कसौटी, परिणति में वीतरागता का पोषण होना है। इस प्रकार अपने ध्येय को प्राप्त करने का सत्यार्थ उपाय अर्थात् पुरुषार्थ क्या है, यह निर्णय करता है।

परीक्षा करके सत्यार्थ निर्णय पर पहुँचने की विधि भी जिनवाणी में बताई है। वृहद् द्रव्य संग्रह के पृष्ठ 9 पर कहा है उसका आशय है कि "शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ समझकर प्रत्येक विषय का भावार्थ निकालना चाहिये और ऐसा सर्वत्र लगाना चाहिये।" इसी प्रकार परमात्म प्रकाश के पृष्ट 7 पर भी कहा है, उसका भी आशय है कि "(विषय को) खंड रूप समझना वह शब्दार्थ, नय विभाग से समझना वह नयार्थ, किस मिथ्या मान्यता के निषेध के लिये किया गया कथन है वह अपेक्षा समझना मतार्थ,

आगम की परम्परा से मिला कर समझना वह आगमार्थ, उक्त प्रकार से समझने से भावों में वीतरागता प्रगट होती है वह भावार्थ है। इसी तरह शब्द, नय, मत, आगम भावार्थ व्याख्यान के अवसर अथवा समझने के अवसर पर सब जगह लगा लेना।'' इसी पद्धति का समर्थन समयसार गाथा-5 की टीका से भी प्राप्त होता है। उसमें भी आचार्य श्री ने कहा है कि ''मेरे (आत्मा के) निज वैभव का जन्म, द्रव्यश्रुत अर्थात् आगम की उपासना से, अन्य वादियों द्वारा गृहीत एकान्त रूप नय पक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिष्तुष निर्बाध युक्ति के आलंवन से, (उत्पन्न होने वाले अनुमान ज्ञान द्वारा) तथा परम्परा गुरु के उपदेश द्वारा, मेरे स्वानुभव अर्थात् वीतराग परिणति का जन्म हुआ है।'' **तात्पर्य यह है कि आगम, के कथन को, अनेक अपेक्षाओं एवं युक्तियों से समझकर, अनुमान ज्ञान द्वारा परीक्षा करके, गृहण करना चाहिये और परिणति में वीतरागता की उत्पत्ति की स्वानुभव द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिये।**

उक्त प्रकार की पद्धतिपूर्वक परीक्षा करके निर्णय करने की संक्षिप्त एवं सरल विधि मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ट 258 पर बताई है –

''वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं – जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना, तथा परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये। सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करके जैसा उपदेश दिया वैसे ही है अथवा अन्यथा है ? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न माने तो ऐसा होगा; सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है ? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हों

अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धारन हो, तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे, और वे उत्तर दे उसका विचार करे। **इसी प्रकार जब तक निर्धार (निर्णय) न हो तब तक प्रश्न-उत्तर करे।** अथवा समानबुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे; तथा जो प्रश्नोत्तर में निरुपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। **इसी प्रकार जब तक अपने अन्तरंग में जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम किया करे।''**

आगे कहते हैं – ''ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेव का उपदेश है वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसी प्रकार भासित होता है''; आगे कहा है – **''भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नहीं होता।'' फिर कहते हैं – ''जिसका भाव भासित हुआ हो, उसे अनेक प्रकार से भी अन्यथा नहीं मानता; इसलिये भावभासित होने पर जो प्रतीति (श्रद्धा) होती है वही सच्ची प्रतीति है।''**

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्यक् श्रद्धा, जो कि मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, उसको उत्पन्न करने के लिये **उपर्युक्त पद्धति अपनाकर, परीक्षाकर, अपने सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञायक का स्वरूप समझकर नि:शंक निर्णयकर, ऐसा विश्वास-श्रद्धा-प्रतीति उत्पन्न करना चाहिये कि ''वह ज्ञायक ही मैं हूँ''।**

प्रश्न – उपर्युक्त पद्धति अपनाकर, निर्णय करने में भी विकल्प तो उत्पन्न होंगे।

उत्तर – आत्मार्थी को विकल्प से घबड़ाकर, विकल्पों की जाति परिवर्तन अथवा उनके रोकने में पुरुषार्थ को नहीं उलझाना चाहिये। संज्ञी प्राणी को विकल्प तो हुए बिना रह

नहीं सकते। कर्तव्य तो इतना ही है कि ध्येय को मुख्य रखते हुए, उद्देश्य की सिद्धि के लिए, यथार्थ निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये। उक्त प्रयत्न में सत्समागम, उपदेश श्रवण, जिनवाणी का अध्ययन, चिन्तन, मनन विचार आदि सभी कार्य होते हैं और उन सबमें विकल्प तो होते ही है; **परन्तु ऐसे विकल्प किये नहीं जाते वरन् हुए बिना नहीं रहते।** जो विकल्प किये जाते हैं, उनमें कर्तृत्व का पृष्टबल रहता है इसलिये उनमें विकल्प मुख्य रहता है, उद्देश्य मुख्य नहीं रहता। तथा उनका काल भी सीमित होता है अर्थात् जब तक विकल्प करने का अभिप्राय रहता है तभी तक होते रहेंगे, **तत्पश्चात् शून्यवत् हो जावेंगे और उनसे परिणति में कुछ भी उपलब्धि हुई अनुभव में नहीं आवेगी।**

इसके विपरीत, ज्ञायक में अपनत्व की श्रद्धा उत्पन्न करने के प्रयत्न में, निर्णय के लिये विकल्पादि तो उत्पन्न होंगे; लेकिन उनका उद्देश्य विकल्प करना नहीं होता वरन् निर्णय करना होता है। इसलिये ऐसे विकल्प करने नहीं पड़ते वरन् हुए बिना नहीं रहते; उन विकल्पों में कर्ताबुद्धि नहीं होती, सहजरूप से होते हैं; इसलिये उनका काल भी लम्बा होता है, खाते-पीते-चलते-फिरते भी होते रहते है तथा **इन विकल्पों में निर्णय करने का उद्देश्य होने से निर्णय मुख्य रहता है फलतः विकल्प होते हुए भी विकल्प गौण बने रहते हैं मुख्य नहीं होते। और उपलब्धि यह होती है कि उनके द्वारा निर्णय सत्यार्थ होने पर, परिणति को वीतरागता का पोषण मिलने से, अन्तर में आंशिक अनाकुलता रूप शांति का आंशिक वेदन होता है।** अन्य विकल्पों से ऐसी शांति प्रगट नहीं होती। एकान्त में बैठकर जो उद्देश्य विहीन विचार विकल्प किये जाते हैं, उनमें कषाय की मंदता होने से कुछ शांति भी लगने लगती

है और पुण्य बंध भी होता है किन्तु आत्मस्वरूप की पहिचान बिना, रुचि को पोषण नहीं मिलता। और जो निर्णय करने के उद्देश्य में विकल्प होते है, उनमें भी कषाय की मंदता के कारण पुण्यबंध तो होता ही है परन्तु ऐसे विकल्प स्वरूपसन्मुख होने से उनके द्वारा रुचि को प्रोत्साहन मिलता है; रुचि श्रद्धा गुण का परिणमन है,फलतः श्रद्धा में दृढ़ता होती है। इसलिये उक्त प्रकार के विकल्प मोक्षमार्ग प्रगट करने में कारणभूत बन जाते हैं। इस प्रकार का महान अन्तर, उद्देश्यविहीन के विकल्पों में और निर्णय करने के उद्देश्य से होने वाले विकल्पों में होता है।

दूसरा प्रश्न है, ज्ञेय के परिवर्तन करने का अर्थात् अन्य ज्ञेय हराकर, आत्मा को ज्ञेय बनाकर आत्मोपलब्धि प्रगट करने के पुरुषार्थ का। उत्तर इस प्रकार है कि कई आत्मार्थी बन्धु, जिनवाणी के अध्ययन द्वारा आत्मा की सामर्थ्यों आदि के कथन पढ़कर, स्वरूप निर्णय की चेष्टा तो नहीं करते; फलतः रुचि भी उत्पन्न होती नहीं। और ध्यान के द्वारा अपने ज्ञान को आत्मा की ओर एकाग्रकर, आत्मा को ज्ञेय बनाने की चेष्टा करते है। **ऐसे अभ्यास में कषाय की मंदता होने से मिथ्यात्व सहित के पुण्य बंध के साथ किञ्चित् शान्ति भी लगने लगती है; ऐसी शांति को अपने अभ्यास की सफलता मानकर, मिथ्या मान्यता को और भी दृढ़ करते है।**

उक्त मान्यता में मूलभूत अन्तर तो यह है कि ध्यान का लक्षण तो ''एकाग्र चिन्ता निरोधोध्यानम्'' है, तदनुसार सर्वप्रथम तो **जिसको अग्र करना है, ऐसा स्वरूप सम्यक् श्रद्धा एवं सम्यग्ज्ञान द्वारा स्पष्ट होकर जिसको प्रगट हो गया हो, उसको ही उस स्वरूप को अग्र करके, अन्य चिन्ता का निरोध होता है।** ऐसा ध्यान तो श्रेणी चढ़ने वाले मुनिराज को होता है। यही कारण है कि ऐसे

ध्यान का परिचय तत्त्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय में कराया है।

दूसरा मूलभूत अन्तर है कि आत्मद्रव्य तो अमूर्तिक महापदार्थ है और हमारा ज्ञान इन्द्रियज्ञान है, उसका विषय तो मूर्तिक पदार्थहोता है, अमूर्तिक नहीं होता। ऐसी स्थिति में **किसी भी प्रक्रिया अथवा ध्यान के द्वारा हमारा ज्ञान, आत्मा को ज्ञेय बना नहीं सकेगा।** निष्कर्ष यह है कि हमारे ज्ञान में किसी भी प्रक्रिया से आत्मा ज्ञेय नहीं हो सकेगा।

प्रश्न – जिनवाणी में सम्यग्दृष्टि को भी तो आत्मा का अनुभव होना लिखा है ?

उत्तर – यह भी सत्य है, परन्तु उसके संवेदन को प्रत्यक्ष कहा है आत्मा को नहीं। **निर्विकल्पतापूर्वक ज्ञान अतीन्द्रिय होने के काल में, आत्मा के निराकुल आनन्द के स्वाद का संवेदन अर्थात् अनुभव को, प्रत्यक्ष कहा है, आत्मा प्रत्यक्ष होना नहीं कहा।** दोनों में यह महान् अन्तर है। निराकुल आनन्द का स्वाद तो वीतरागी परिणति में प्रगट होता है, ज्ञान के द्वारा तो उसका प्रकाशन होता है। ज्ञान का कार्य तो मात्र जानना है, आनन्द सुख गुण की पर्याय है जो कि अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है, ऐसे सुख की प्रगटता को ज्ञान जान लेता अर्थात् संवेदन कर लेता है, इसी का नाम आत्मा का अनुभव है।

तात्पर्य यह है कि अमूर्तिक आत्मा तो इन्द्रिय ज्ञान में ज्ञात हो नहीं सकता, वह तो अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञान में ही ज्ञात होता है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान क्षायोपशमिक होने से, उसको आत्मा अथवा उसका गुण अथवा पर्याय प्रत्यक्ष नहीं होते। इसलिये जिस आत्मार्थी ने यथार्थ प्रक्रिया अपनाकर, अपना अस्तित्व त्रिकाली ज्ञायक निर्णय

कर उसमें अपनत्व स्थापन कर लिया हो, तो उसके साथ अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागी परिणति प्रगट हो जाती है। फलस्वरूप आत्मा के अनन्तगुण भी ज्ञायक के सन्मुख कार्यशील हो जाते हैं, उनमें ज्ञान का परिणमन भी होता है इसलिये ज्ञान भी वर्हिलक्ष्य छोड़कर अन्तर्लक्ष्यी कार्यरत हो जाता है। ज्ञानी के ऐसे ज्ञान को अतीन्द्रिय कहा जाता है; ऐसे ज्ञान में अनन्तगुणों के कार्यों का संवेदन अर्थात् स्वाद प्रत्यक्ष हो जाता है; आत्मद्रव्य तो उसको भी प्रत्यक्ष नहीं होता। वह तो क्षायक ज्ञान में ही प्रत्यक्ष होता है। **इस प्रकार आत्मा के सुख गुण की प्रगटता का आंशिक स्वाद निर्विकल्प अनुभव के समय आत्मा को वेदन प्रत्यक्ष हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी को भी मात्र आनन्द का स्वाद ही प्रत्यक्ष होता है। उसी को आत्मा का अनुभव कहा जाता है।**

उक्त स्थिति स्पष्ट होते हुए भी कितने ही विद्वान् बन्धु उपर्युक्त निर्णय करने की पद्धति को श्रम साध्य एवं बुद्धि का व्यायाम बताकर, अनेक कल्पित मार्ग विकसित कर लेते हैं, घड़ लेते है। उनमें से कई तो आत्मा की सामर्थ्यों आदि के विचार करने के साथ अन्य ज्ञेयों की उपेक्षा करने के विचार-चिन्तन-मनन आदि से आत्मानुभूति प्रगट होना बताकर, उस मार्ग को आत्मानुभूति का संक्षिप्त एवं सरल मार्ग का लोभ दिखाकर, निर्णय करने के सत्यार्थ मार्ग से च्युत कर देते है। कितने ही कथित विद्वान् यह कहकर मार्ग भ्रष्ट कर देते हैं कि सब कुछ समझकर भी, त्रिकाली ज्ञायक में उपयोग को ही तो एकाग्र करना है और उसके लिये आगम में कहे अनुसार ध्रुव और पर्याय का भेदज्ञान करना है। इसलिये ध्रुव में एकाग्र करने के लिये पर्याय से उपयोग हटाकर, एक शुद्ध बुद्ध आत्मा पर ध्यान एकाग्र करना ही असली एवं प्रायोगिक (Practical) कार्य है; निर्णय

आदि तो सैद्धान्तिक ज्ञान (Theoritical Knowledge) है। इसलिये एकान्त में बैठकर ध्यान लगाने से आत्मानुभव हो जावेगा आदि-आदि। इस प्रकार के अनेक विपरीत मार्ग अज्ञानियों ने विकसित कर लिये हैं।

संक्षेप में सारांश यह है कि किसी भी पद्धति अथवा क्रिया द्वारा आत्मा, ज्ञान में ज्ञात नहीं हो सकता। वह तो मात्र श्रद्धा में व्यक्त अर्थात् प्रगट होता है; तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार से उसका तो **यथार्थ स्वरूप समझकर, निःशंक एवं अकाट्य निर्णय द्वारा विश्वास-श्रद्धा-प्रतीति की जाती है। और श्रद्धा यथार्थ हुई है, उसकी प्रामाणिकता ज्ञायक के प्रति रुचि और अपनत्व उत्पन्न होना है एवं परिणति में वीतरागता की उत्पत्ति होना है;** उसी के फलस्वरूप ज्ञायक में एकाग्रता होती है। ध्यान आदि करने से एकाग्रता नहीं होती, वरन् करने संबंधी विकल्प होकर रह जाते हैं। इसके विपरीत ज्ञायक में अपनापन होते ही, परज्ञेयों से अपनत्व टूटता है, फलस्वरूप वे स्वतः ज्ञान में गौण रह जाते है; अन्ततः द्वैत का अभाव होते ही सहजरूप से ज्ञान भी निर्विकल्प हो जाता है ऐसी सहज प्रक्रिया है अनुभव की; वह प्रक्रिया करने से नहीं हो सकती।

इसलिये आत्मार्थी को ऐसे मिथ्या मार्गों से सावधान रहना चाहिये। सरलता एवं संक्षिप्त मार्ग के झूठे प्रलोभनों में नहीं फंसकर, एकमात्र वीतरागता की कसौटी पर कसकर, सबकी यथार्थता की परीक्षा कर लेनी चाहिये। **जिस मार्ग के अपनाने से परिणति में वीतरागता का पोषण हो, मात्र वही मार्ग सत्यार्थ है; ऐसे विश्वास के साथ निःशंक होकर उसी मार्ग को अपनाकर मोक्षमार्ग प्रगट कर लेना चाहिये। यही सारभूत है।**

प्रयोग्यलब्धि की चरम दशा

इस प्रकार की तीव्र रुचिपूर्वक की विकल्पात्मक श्रद्धा वाला जीव ही प्रायोग्यलब्धि के अन्तिम चरण को पारकर करणलब्धि में प्रवेश करने योग्य अर्थात् पात्र होता है। ऐसे आत्मार्थी की अन्तर्दशा बताने वाला पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी का पृष्ठ 372 का निम्न अंश है –"अब सविकल्प द्वारा निर्विकल्प परिणमन होने का विधान कहते है – वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्व-पर का करे; नोकर्म-द्रव्यकर्म भावकर्म रहित केवल चैतन्य-चमत्कार मात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् पर का भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्म विचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार निज स्वरूप में अहंबुद्धि करता है। चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्दतरंग उठती हैं, रोमांच हो जाता है, (ऐसी दशा तक अनुभव का आनन्द नहीं है) तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्र स्वरूप भासने लगे; वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन ज्ञानादिक व नयप्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है। (विचार छूटता है, ज्ञान नहीं)। चैतन्य स्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही मैं व्याप्य-व्यापक रूप होकर इस प्रकार प्रवर्तता है जहाँ ध्याता-ध्यान-ध्येयपना दूर हो गया, सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है।"

आगे पुनः कहते हैं – "तथा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों व छठवें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूप सन्मुख हुआ।"

उपर्युक्त कथन प्रायोग्यलब्धि प्राप्त आत्मार्थी की अन्तर्दशा का ज्ञान कराते हुए, करणलब्धि में प्रवेश कर, निर्विकल्प आत्मानुभूति पूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त होने तक की अन्तर्दशा का स्पष्ट ज्ञान कराता है। उक्त चिट्ठी के ऊपर पू. श्रीकानजी स्वामी के द्वारा हुए प्रवचन

'अध्यात्म सन्देश' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। अभ्यासी आत्मार्थी को उनका मूलतः अध्ययन करना अत्यन्त प्रयोजनभूत है।

करणलब्धि में प्रवेश

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त चर्चा का सारांश यह है कि उग्रतम रुचिपूर्वक परमशुद्ध निश्चयनय के विषय ज्ञायक में, जितनी प्रगाढता के साथ अपनेपन की श्रद्धा-प्रतीति उत्पन्न होगी, तदनुसार ही व्यवहारनय के विषयों में अपनत्व की पकड़ बुद्धि (अनन्तानुबंधी की पकड़) ढीली होती जावेगी। तदनुसार परिणति का झुकाव भी स्व की ओर बढ़ता जावेगा। अन्ततः ऐसी परिणति ही अन्तर्मुहूर्त तक, स्व में एकाग्र रहकर, निर्विकल्पतापूर्वक आत्मानुभूति प्रगट कर लेगी। यही काल करणलब्धि के परिणाम का है; और उसी काल में द्रव्यकर्मों के स्थिति-अनुभाग भी स्वयं ही अकर्म रूप परिणम जाते हैं। फलस्वरूप अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्द का अंश प्रगट होकर, आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यही आत्मार्थी का ध्येय एवं उद्देश्य था, वह सफल होकर यह आत्मा अन्तरात्मा बन जाता है।

इस प्रकार इस पुस्तक का उद्देश्य ''दृष्टि के विषय'' त्रिकाली ज्ञायक ऐसे कारण परमात्मा में अपनत्व कराना था, वही ''अपनत्व का विषय'' भी है। उसी में अपनत्व होने से मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी का नाश होकर सम्यग्दर्शन होता है। वर्तमान के इस कलिकाल में पू. श्रीकानजी स्वामी ने इस मार्ग का पुर्नउद्घाटन किया, उसी मार्ग का संक्षेपीकरण इस पुस्तक में है। मुझे विश्वास है कि जो आत्मार्थी बन्धु उक्त मार्ग का अनुसरण कर, अपनी परिणति को सब ओर से समेटकर अपने ज्ञायक परमात्मा में एकाग्र करेगा, तो वह सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त करेगा, सभी आत्मार्थी बन्धु सम्यग्दर्शन प्रगट कर अपना जीवन सफल करें; इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ। जयवन्त वर्ते वीतरागता, जो सकल जैन शासन का सार है। ●